प्रबंध-प्रदीप

डा० रामरतन भटनागर

प्रकाशक
ग्रान्ड बुक डिपो,
इलाहाबाद

आमुख

स्वतंत्र भारत में हिंदी के स्वत्व को स्वीकार किया जा रहा है और विद्यार्थी वर्ग में नये नये ग्रंथों की माँग बढ़ती जा रही है। यह आवश्यक भी है। अब तक देश की जनता अपने अधिकारों के प्रति जागरूक नहीं थी। शासक उसे उतना ही देते थे जितने में वे अपने को सुरक्षित समझते थे। जनवाणी हिंदी से उनका गहरा विरोध था। कारण, वह जनाकांक्षाओं से ओतप्रोत थी और उसका स्वर विद्रोह और चुनौती का स्वर था। आज परिस्थिति बदल गई है। हिंदी युग की नई चेतना की प्रतीक है और निकट भविष्य में उसका अन्तर्राष्ट्रीय महत्व भी स्थापित हो जायेगा।

आज विद्यार्थी अच्छी हिंदी लिखना सीखना चाहते हैं और प्रबंध-लेखन की महत्ता समझते हैं। साहित्य की अनेक कोटियाँ हैं परन्तु निबन्ध-लेखन उन सब की सीढ़ी है। उसे पार करके ही आगे बढ़ा जा सकता है। व्यावहारिक गद्य का सबसे अच्छा परिचय निबंधों द्वारा ही होता है। विद्यार्थी से यह आशा की जाती है कि वह संक्षेप में, सुष्ठ शैली में, आवश्यक साहित्यिकता का पुट देते हुए किसी विशेष साहित्यिक, सांस्कृतिक, नैतिक अथवा सामयिक विषय पर सुसंबद्ध रूप से दस-पाँच पृष्ठ लिख सके। वह जो लिखे वह स्पष्ट हो उसमें चाहे साहित्य की बड़ी-बड़ी उड़ानें नहीं हों, परन्तु उसमें साहित्य का रस अक्षुण्ण रहे। उसकी निजी शैली विकसित न हुई हो तो कोई बात नहीं, परन्तु वह सामान्य भाषा शैली का सबसे सुन्दर रूप हमें दे।

प्रस्तुत पुस्तक विद्यार्थी की इसी आवश्यकता को ध्यान में रखकर लिखी गई है। इसमें भिन्न-भिन्न विषयों पर ३२ निबन्ध हैं। निबन्धों के विषयों में विद्यार्थी के लिए उपयोगिता का ध्यान रखा गया है।

उनमे उसके ज्ञान की वृद्धि होगी और वह इस श्रेणी के निबन्धों की एक रूपरेखा स्थापित कर सकेगा। कुछ सामयिक निबन्ध भी हैं। आज आदर्श के विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने चारों ओर देखे और जो पढ़े सुने, उसे अपने गंभीर चिंतन का विषय बनाये। सम-सामयिक जीवन और राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं से उसे परिचित होना पड़ेगा और तभी वह अपने निबन्धों के प्रति पूर्ण रूप से न्याय कर सकेगा। इस पुस्तक के निबन्ध इस क्षेत्र में उसे प्रेरणा देंगे, ऐसी मेरी आशा है।

जनवरी, १९५१ — रामरतन भटनागर

संकेत

१

कविता का स्वरूप

१—कविता के तीन मान्य रूप २—कविता के कुछ विभाग ३—काव्य की मूलगत विशेषताएं ४—अनुभूति, कल्पना और सांकेतिकता ५—काव्य में संगीत, छंद और लय का महत्त्व ६—उपसंहार

मानव-सभ्यता के आरम्भ से ही मनुष्य-जाति में कवि होते रहे हैं और उनकी कविता से मानव-समाज आनन्दित होता रहा है। ऋग्वेद के 'कविर्मनीषी' से ले कर आज के "कवि सम्राट्" तक हमें जो चीज़ देते हैं, वह निस्सन्देह कविता है, परन्तु उस साहित्य में जिसे हम कविता कहते हैं, एकरूपता ढूँढना हास्यास्पद होगा।

कविता के तीन रूप हमारे सामने हैं। एक है छन्दबद्ध, दूसरा लयात्मक गद्य, तीसरा मुक्त छंद। साधारण जनता कविता का अर्थ छन्द-बद्ध पद ही लगाती है, परन्तु विद्वान विशेष गद्य और मुक्त छंद को भी कविता कहते हैं। यहाँ हम तीनों के उदाहरण देंगे। कविता के छंद-बद्ध, रूप से हम पूर्णतयः परिचित हैं। संसार का अधिकांश काव्य छंद-बद्ध ही है। कदाचित् छंदबद्ध कविता का उदाहरण देने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु मुक्त छंद और गद्यगीत नई श्रेणी के काव्य हैं और उनका प्रचार उन्नीसवीं शताब्दी से पहले नहीं था। मुक्त छंद के उदाहरण में हम 'निराला' की ये पंक्तियाँ ले सकते हैं :

अस्ताचल ढले रवि,
शशि-छवि विभावरी में
चित्रित हुई है देख
यामिनी-गंधा जगी,
एकटक चकोर-कोर दर्शन-प्रिय
आशाओं-भरी मौन भाषा बहुभावमयी
घेर रहा चंद्र को चाव से,
शिशिर-भार-व्याकुल कुल
खुले फूल झुके हुए!

गद्य-गीत के आधुनिकतम रूप के लिए हम रविबाबू की अँग्रेज़ी 'गीतांजलि' या राय कृष्णदास के 'साधना' ग्रन्थ को ले सकते हैं। 'साधना' का एक गद्य-गीत इस प्रकार है: 'मेरे आसुओ, तुम मेरे हृदय ही में बने रहो, बाहर न निकलो। बाहर आकर आँखों में बसी उस मंजुल मूर्ति को धुँधली न करो। हृदय में रह कर उसे धोया करो। बाहर आकर संसार की सूखी हँसी का कारण न बनो। हृदय में ही रहकर उसे धोया करो। बाहर आकर संसार की रूखी हँसी का कारण न बनो। हृदय में ही उसे आर्द्र बनाये रहो। बाहर आकर सूखी धूल में मिलने के लिये न गिरो। हृदय ही में रहकर उन पवित्र स्मृतियों को सींचा करो। तुम मेरे परम-निधि हो, भावरत्नाकर हो—तुम मेरे हृदय से विलग न हो।'

इन तीनों उद्धरणों में ऐसी क्या चीज़ है जो हमें कविता कहने को बाध्य करती है। वह है उत्कृष्ट कल्पना और सम्वेदना जगाने की शक्ति। छन्द और लय इस सम्वेदना को अपेक्षाकृत जल्दी उभार देते हैं। परन्तु इनका बंधन नितान्त आवश्यक नहीं। यह तीसरे उद्धरण से पता चल जायगा।

३

हिंदी-साहित्य में तुलसीदास का स्थान

१—हिंदी का साहित्य मुख्यतः काव्य साहित्य है २—हिंदी काव्य-धारा में तुलसी का ऐतिहासिक स्थान ३—विद्यापति, कबीर, सूरदास, केशवदास, जायसी, मीरा और बिहारी से तुलसी की तुलना ४—तुलसी और आधुनिक कवि ५—तुलसी की शक्ति और उनकी सीमाएं ६—उपसंहार

हिंदी का साहित्य मुख्यतः काव्य-साहित्य है। गद्य-साहित्य का विशेष विकास १६ वीं शताब्दी के प्रारंभ से हुआ और उसका इतिहास १५० वर्षों से पीछे नहीं जाता। अतः अभी उसमें युगांतकारी रचनाओं की आशा नहीं है। प्रेमचंद के उपन्यास और प्रसाद के कुछ नाटकों को छोड़ कर उनमें अभी ऐसा बहुत कम है जो विश्व-साहित्य के सम्मुख रक्खा जा सके। वस्तुतः आज भी हमारे साहित्य का प्रतिनिधित्व काव्य ही कर रहा है। वही हमारे साहित्य की सबसे बड़ी शक्ति है। फलतः हिन्दी साहित्य में तुलसीदास के स्थान के सबंध में विवेचना करते समय हमें मुख्यतः काव्य-साहित्य को ही लेना होता है।

इसमें संदेह नहीं कि हिंदी के काव्य-साहित्य में तुलसो का स्थान अप्रतिम है। हिंदी काव्यधारा सरहपा के समय (७५० ई०) से अब तक अविच्छिन्न रूप से बहती रही

और उसमें हिंदी प्रदेश के अनेक आंदोलनों और जन-मन के आलोड़न-विलोड़न का इतिहास सुरक्षित है। प्राचीन काव्य के सबसे उज्ज्वल रत्न विद्यापति, कबीर, सूरदास, केशवदास, जायसी, मीरा और बिहारी हैं। इनमें विद्यापति, सूरदास और मीरा मुख्यत: गीतकार हैं। केशव और बिहारी मुक्तक काव्य के प्रणेता के रूप में प्रसिद्ध हैं यद्यपि केशव की एक रचना रामचंद्रिका तुलसी के रामचरितमानस के सम्मुख रक्खी जाती रही है। कबीर मूलत: सुधारक कवि और युग-नेता हैं। वह तुलसी की तरह भक्त तो हैं ही, परंतु, उनमें कुछ ऐसे तत्त्व भी हैं जो उन्हें केवल साहित्य-चेत्ता से बहुत ऊपर उठा देते हैं। केवल कवि से स्पष्टतय: उन्हें घृणा है। उन्होंने कहा है—

कवि कवीने कविता मुए।

कबीर का अधिकांश काव्य दोहा-चौपाइयों और गेय पदों में है। अब रह गये जायसी। उनका 'पद्मावत' अनेक दृष्टिकोणों से तुलसी के रामचरितमानस के समकक्ष खड़ा हो सकता है। 'मानस' और 'पद्मावत' दोनों कथा-काव्य हैं और कथा-काव्य की सारी सीमाएं और सारी विशेषताएं उनमें आ जाती हैं। दोनों ग्रंथों में कथा की अपेक्षा अध्यात्म-तत्व की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। तुलसी रामचरितमानस का अंत करते हुए कहते हैं—

पुण्यं पापहरं सदा शिवकरं विज्ञान भक्तिप्रदं
माया मोहमलापहं सुविमलं प्रेमांबुपूरं शुभम्
श्रीमद्राम चरित्र मानसमिदं भक्त्यावगाहन्ति ये
ते संसार पतंग घोर किरणैर्दह्यन्ति नो मानवा :

वाल्मीकि की रामायण से लेकर हरिऔध के प्रिय-प्रवास तक हम असंख्य कवियों और कविताओं से परिचित होते हैं। परन्तु यह दो बातें उन सभी कविताओं में मिलेगी जिन्हें हम सच्चे माने में कविता कहते हैं। वाल्मीकि राम-सीता के वियोग का वर्णन जिन शब्दों में करते हैं, वही शब्द, वही भंगिमाएँ, वही भाव उत्कृष्ट कवियों में बार-बार दिखलाई देते है। इसका कारण यह है कि मनुष्य की प्रकृति बराबर समान रही है और उसके मूल भावों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। जब कवि प्रतिदिन के साधारण और वैयक्तिक अनुभवों से ऊपर उठकर सामान्य मानुषी स्वभाव और तज्जन्य सुख-दुख की बात कहता है, तब उसका काव्य देश-काल की सीमाओं को पार कर सार्वभौमिक और सार्वकालिक हो जाता है। बाल्मीकि सीता-राम के परिणय के गीत गाते हैं तो हरिऔध लगभग ऐसे ही प्रसंग को सामने लाकर कृष्ण के प्रति राधा के अनुराग का चित्रण करते हैं।

प्राचीनों ने कविता के कुछ ऐसे विभाग भी किये हैं जिनका आधार उनका विषय-विस्तार और निर्वाह का ढंग है। यह भेद हैं महाकाव्य, खंडकाव्य, गीतिकाव्य, नाट्यकाव्य और चम्पू। महाकाव्य, खंडकाव्य, नाट्यकाव्य और चम्पू कथात्मक हैं। गद्यकाव्य कथात्मक और वर्णनात्मक होता है। गीतिकाव्य अनुभूति-प्रधान। वैयक्तिक कविता का उद्देश हमारी सम्वेदना को जगाना और हमारी सौन्दर्य-बोध की प्रवृत्ति को उत्तोजना देना है। मनुष्य को दूसरे मनुष्य से स्वाभाविक सम्वेदना होती है। अतः श्रेष्ठ काव्य में किसी व्यक्ति के दुख-सुख की कथा होना आवश्यक है। हर्ष, भय, विषाद, प्रेम, ईर्ष्या, द्वेष, अहंकार, माता का पुत्र के लिए

बलिदान, प्रेमी की कष्ट-सहिष्णुता—ये कुछ ऐसी बातें हैं जो सब देशों के मनुष्यों में समान रूप से मिलेंगी। प्रत्येक पाठक इनसे प्रभावित होगा। जहाँ काव्य केवल कवि की अनुभूति का वर्णन करता है और कथा लेकर नहीं चलता, वहाँ भी उस अनुभूति की व्यापकता उसे सार्वभौम बना देती है। कवि अपनी बात तो कहता है परन्तु उसमें वह सब को बात कह देता है। अतः यह निश्चित है कि कविता का मुख्य गुण भावोद्रेक है, वह हमारी सम्वेदना को जगाती है और मनुष्य-मनुष्य के समान तत्त्व के बने होने के कारण हम कवि की व्यक्तिगत या उसके द्वारा निर्मित पात्र की अनुभूति में भाग लेने लगते हैं। ऊपर काव्य के जो विभाग किये गये हैं, उनमें अनुभूति के प्रकाशन का ढंग एक-जैसा नहीं है और फलस्वरूप आकार-प्रकार और 'टेकनिक' का बड़ा भेद है, परन्तु मूल रूप से काव्य की प्रेरणा सब में समान रूप से एक ही है।

कविता की दूसरी प्रधान विशेषता है कल्पना। परन्तु अनुभूति से अलग कल्पना का कोई महत्व ही नहीं है। वह विलास-मात्र है। जहाँ कल्पना और अनुभूति का मणिकांचन-संयोग होता है वहीं श्रेष्ठकाव्य की सृष्टि होती है। कथात्मक काव्य में परिस्थितियों की भी कल्पना करनी पड़ती है, परन्तु साधारण काव्य में भी कल्पना का प्रयोग आवश्यक है। उसके द्वारा अनुभूत चित्र मार्मिक ढंग से उपस्थित किया जाता है। उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण, दृष्टांत और अनेक साम्य और वैषम्य-मूलक अलंकार तभी सार्थक हैं जब वे कवि की बात को स्पष्ट करते हैं या उसकी अनुभूति को और भी मार्मिक बना कर हमारे सामने उपस्थित करते हैं। उदाहरण के लिए 'पंत' के बादल की ये पंक्तियाँ कल्पनातिरेक के कारण काव्यरस प्रदान करने में असमर्थ हैं :

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल;
नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल।

परन्तु इसी कविता की ये पंक्तियाँ श्रेष्ठ काव्य हैं :

कभी अचानक, भूतों का सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कड़क, कड़क, जब हँसते हम सब,
थर्रा उठता है संसार;
फिर परियों के बच्चों से हम
सुभग सीप के पंख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना में
पकड़ इंदु के कर सुकुमार।

यहाँ कल्पना-चित्र बादलों की अनुभूति को स्थायी बनाने में सहायक होता है। इसी प्रकार पूर्व दिशा में उठे हुए बादलों के मंडलों को लक्ष्य कर जब रामकुमार वर्मा कहते हैं :

यह पूर्व दिशा जो थी प्रकाश की
जननी छविमय प्रभापूर्ण
निज मृत शिशु पर रख नमित माथ
बिखराती घन केशांधकार

तो वह कल्पना से ऐसा चित्र खड़ा करते हैं जो बादलों द्वारा प्राप्त अनुभूति को पाठक के लिए सुलभ बनाने में किसी भी प्रकार सहायक नहीं होता। या 'मैं जीवन में जाग गया' गीत की यह कड़ी—

दीपशिखा वह हिल कर घूमी,
शलभ-राशि छवि-मद में झूमी,
नेत्र देखते रहे—दैत्य सी
ज्वाला ने कोमलता चूमी!

न जाने किस कल्पना-चित्र को जाग्रत करती है, किस भावना को सहारा देती है। यह स्पष्ट है कि केवल-मात्र असंबंधित और असंयमित कल्पना से ही कोई पद्य कविता नहीं बन जाता। वह कल्पना कवि की अनुभूतियों से सबंधित हो, उसमें स्पष्टता हो, मनोरंजकता हो।

ये तो कविता के दो प्रधान गुण हुए। यदि काव्य में उत्कृष्ट कल्पना नहीं है या सम्वेदना जगाने की शक्ति नहीं है तो वह उच्च श्रेणी का काव्य ही नहीं है। परन्तु एक तीसरी चीज़ भी काव्य में हो तो वह काव्य-रस का आस्वाद बढ़ा देती है। यह तीसरी चीज़ है सांकेतिकता। संकेत या व्यंजना काव्य का प्राण है। कवि जो कहे, जो कल्पना-चित्र उपस्थित करे या जो अनुभूति हमें दे, उसका काव्य उसी तक समाप्त नहीं हो जाये। उसमें सहृदय के डूबने-उतराने के लिए भी काफ़ी गहराई हो। हमारे आचार्यों ने ध्वनि को प्रधानता दी है। यह ध्वनि काव्य का चमत्कार बढ़ा देती है। प्राचीनों ने कहा है:

मुक्ताफलेषुच्छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

—'मोती के भीतर छाया की जैसी तरलता होती है वैसी ही कांति, वैसी ही सांकेतिकता श्रेष्ठ काव्य में होनी चाहिये।'

काव्य गद्य में हो या पद्य में या गद्य-पद्य (चंपू) में—ये विशेषताएं हैं तो वह काव्य श्रेष्ठ है। केवल अनुभूति, केवल कल्पना, केवल संकेत श्रेष्ठ काव्य की उत्पत्ति नहीं कर सकते। छंद और लय काव्य के अनुभूति-पक्ष और उसकी सांकेतिकता की वृद्धि करते हैं। परन्तु केवल पद्य में ही छंद और लय का विधान नहीं होता। गद्य में भी छंद और लय की योजना संभव है। श्रेष्ठ गद्यकारों के काव्यरसपूर्ण स्थलों में संगीत की वैसी ही माधुरी मिलेगी जैसी श्रेष्ठ कविताओं में मिलती है। परन्तु फिर भी गद्य की अपेक्षा पद्य में संगीत और लय के सहारे काव्य-रस की स्थापना कहीं अधिक सरल है। परन्तु यहाँ फिर कुछ लोग गलती करते हैं। वे संगीत और लय को ही काव्य समझ लेते हैं और निरर्थक झंकार-मात्र को कविता कहने लगते हैं।

२

उपन्यास-पाठ

१—उपन्यास : गद्यकाव्य २—उपन्यास की प्रमुख विशेषता—कथा-वस्तु ३—उपन्यासों के प्रकार ४—उपन्यास-पाठ के लाभ ५—उपन्यास-पाठ की कुछ हानियाँ ६—अच्छे उपन्यासों का चुनाव ७—उपसंहार

उपन्यास ऐसे गद्य-काव्य हैं जिनमें हम अपने आस-पास के जीवन को कला के भीतर से देखते हैं। उपन्यास लिखते समय उपन्यासकार का प्रधान ध्येय यह होता है कि वह पाठक को आनन्द प्रदान करे। और यदि सम्भव हो तो आनन्द के साथ-साथ उसे शिक्षा भी दे। उपन्यास का आनन्द काव्य के आनन्द से कुछ भिन्न है। काव्य की आत्मा रस है परन्तु उपन्यासकार रसानुभूति को ही प्रधानता नहीं देता। जब हम अपने परिचित अथवा अपरिचित जीवन से परिचय प्राप्त करते हैं तो हमें एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त होता है। इस आनन्द को हम सत्य की अनुभूति का आनन्द कह सकते हैं। अतः उपन्यास की परिभाषा को हम इस तरह लिख सकते हैं—उपन्यास ऐसा गद्य-काव्य है जिनमें हम कल्पना-सम्भूत परिचित अथवा अपरिचित जीवन के सत्य से रसात्मक परिचय प्राप्त करते हैं।

उपन्यास की सबसे प्रमुख विशेषता उसकी कथावस्तु है। परन्तु अकेली कथावस्तु से उपन्यास नहीं बनता। प्राचीन

समय में रूपक, रोमांस, देवाख्यान आदि भी उपन्यास में ही गिने जाते थे। उनकी कथावस्तु ऐसी विचित्र घटनाओं पर आश्रित होती थी जो वास्तव में सत्य नहीं होती थीं। उनका आधार कल्पना था। आज उपन्यास से हमारी माँग है कि वह हमें सच्चा जीवन दे, वास्तविक जीवन में कल्पना का मेल नहीं करे। वह उस प्रकार के जीवन से हमारा परिचय करे जिस प्रकार का जीवन एक साधारण आदमी व्यतीत करता है। इसी लिए आजकल के उपन्यासों की कथावस्तु में आकस्मिक घटनाओं और आश्चर्यजनक घटनाओं का नाम ही नहीं होता।

उपन्यासों के अनेक प्रकार हैं। एक प्रकार ऐतिहासिक उपन्यासों का है। इन उपन्यासों की कथावस्तु का आधार इतिहास होता है। पात्र और कहानी की प्रधान घटना इतिहास से उधार ली जाती है परन्तु उपन्यासकार अपने मस्तिष्क से इन घटनाओं पर कल्पना का गहरा रंग चढ़ाता है और उन्हें विस्तार देता है। ऐसे भी ऐतिहासिक उपन्यास हैं जिनमें इति-हास की छाया-मात्र होती है और उपन्यास का अधिकांश भाग असम्भव घटनाओं से भरा होता है। उपन्यासों का एक दूसरा प्रकार सामाजिक और कौटुम्बिक उपन्यासों का है। इनमें समाज या बड़े-बड़े कुटुम्बों के आचार-विचारों और व्यवहारों के चित्र उतारे जाते हैं। सामाजिक उपन्यासों में कुछ इस प्रकार के भी होते हैं जिनमें समाज या कुटुम्ब की कुछ समस्या उठाई जाती है और उसका हल पेश किया जाता है। ऐसे उपन्यासों का लक्ष्य सुधार होता है। इन्हें हम समस्यामूलक उपन्यास कहते हैं। यह उपन्यास और दूसरे उपन्यासों की अपेक्षा जीवन के अधिक निकट होते हैं। चाहे तो उपन्यासकार थोड़ा बहुत अपनी ओर से भी जोड़ देता है। उपन्यास के इन प्रधान

विभागों के अतिरिक्त इनके विषय और अभिव्यंजना-शैली को लेते हुए कितने ही विभाग किए जा सकते हैं।

उपन्यासों में आनन्द और शिक्षा की दो प्रधान धारायें साथ साथ चलती हैं। उनका विषय मनुष्य और उनके प्रतिदिन के व्यवहार हैं। इनमें हमारा आकर्षण इसलिए है कि हम अपने जैसे प्रत्येक प्राणी के विषय में जानना चाहते हैं। इनसे हमें इस तरह शिक्षा मिलती है कि हम उपन्यास में चित्रित मनुष्य के जीवन की सफलता अथवा असफलता से प्रभावित होते हैं और उन कारणों को समझते हैं जिन्होंने उस पात्र के जीवन को असफल कर दिया है।

उपन्यास-पाठ के अनेक लाभ हैं। जब हम प्रतिदिन के गंभीर कामों से थक जाते हैं, तब हम मन-बहलाव की योजना करते हैं। उपन्यास ऐसा ही एक मन-बहलाव है। साथ ही वह एक लाभप्रद मन-बहलाव है। उसके द्वारा हम प्रत्येक मनुष्य के प्रति सम्वेदनाशील हो जाते हैं और हमारी सहानुभूति का विस्तार होता है। अच्छे उपन्यास हमें शिक्षा देते हैं और हमें प्रेम, साहस, आत्म-बलिदान और कर्तव्य का पाठ पढ़ाते हैं। इसके अतिरिक्त उपन्यास अनेक महत्वपूर्ण विषयों के सम्बन्ध में हमें सूचना देते हैं। वे हमें अनेक वस्तुओं, अनेक स्थानों, अनेक मनुष्यों और अनेक कालों की बात बतलाते हैं। वे उन समस्याओं से हमारा परिचय कराते हैं जो विशेष युग से संबंधित होती हैं। हम उनके द्वारा भिन्न-भिन्न जातियों और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों के रीति-रिवाजों से परिचय प्राप्त करते हैं। आजकल उपन्यास साहित्य के अन्य विभागों की तरह अध्ययन का गम्भीर विषय माना जाता है। मानव-स्वभाव और मनोविज्ञान के अध्ययन के लिए उपन्यासों का पठन-पाठन अत्यन्त आवश्यक है।

उपन्यास-पाठ के जो अनेक लाभ हैं उनके सिवाय कुछ ऐसे भी हैं जिनका सम्बन्ध आनन्द और शिक्षा से नहीं, व्यवहार से है। उपन्यास भाषा-शैली और अभिव्यंजना की शिक्षा देने में अद्वितीय हैं। उपन्यासों में अनेक परिस्थितियों, अनेक विकारों, अनेक भाषा-शैलियों से हमारा परिचय होता है। यदि हम महान् उपन्यासकारों के गद्य का अनुकरण करें तो हमारी अपनी गद्य-शैली आश्चर्यजनक रीति से विकसित होकर प्रौढ़ हो जाय।

परन्तु उपन्यास-पाठ से कुछ हानियाँ भी हैं। कुछ उपन्यासों का आधार आश्चर्यजनक कथावस्तु मात्र होती है, उनसे अच्छा मन-बहलाव भी नहीं होता और कुछ शिक्षा भी नहीं मिलती। वे उस विष की तरह हैं जो धीरे-धीरे हमारे अन्दर प्रवेश कर लेता है और हमें अपना आदी बना लेता है। इसका फल यह होता है कि हम थोड़ी सी उत्तेजना में आनन्द और शिक्षा की बात भी भूल जाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ उपन्यास ऐसे होते हैं जिनमें प्रवेश करते ही हम रोमांस की दुनिया में चले जाते हैं और ऐसे अवास्तविक वातावरण में पहुँच जाते हैं जिससे हमारे अपने प्रतिदिन के जीवन से कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। हम उपन्यासों के संसार में ही रहने लगते हैं। इसका फल यह होता है कि हम अपने जीवन में असफल हो जाते हैं। इससे हमारा चरित्र भी भ्रष्ट हो सकता है और हम अव्यावहारिक कल्पना अथवा निरर्थक उत्तेजना के शिकार हो जाते हैं।

अच्छे उपन्यासों का चुनाव करना बड़ी बात है। साधारण युवक उन्हें केवल आनन्द के ही लिए पढ़ता है। उसे शिक्षा से कुछ मतलब नहीं। इससे देश और जाति में ऐसे तरुणों का

जन्म हो जाता है जो केवल स्वप्न देख कर मन में संतोष कर लेते हैं, और जीवन के सत्य से भागते हैं। उनकी तमाम शक्तियों का अपव्यय हो जाता है। युवावस्था ही ऐसा समय है जब हमारे आचार-विचारों का निर्माण होता है। इसीलिए हम अपने नवयुवकों के लिए ऐसे उपन्यासों को चुनते हैं जो चरित्र-निर्माण में उनकी सहायता करें। उपन्यास-पाठ से एक हानि यह भी है कि हमारा ध्यान गम्भीर साहित्य की ओर कम जाता है। इससे हमारी संस्कृति की नीवें अधूरी ही रहती हैं।

हमें ऐसे उपन्यास पढ़ने चाहिए जिनमें पात्रों के चरित्र का विश्लेषण हों, हमें नई सूचना मिलती हो अथवा उच्च नैतिक जीवन सम्बन्धी कुछ संदेश मिलता हो। ऐसे भी उपन्यास पठनीय हैं जिनमें हमारी आशाकांक्षाओं, भावनाओं और वासनाओं के चित्र उपस्थित किये गये हैं। अच्छे चुने हुए उपन्यासों का पठन-पाठन हानिकर नहीं। एक जगह बैठ कर न इतना मन-बहलाव हो सकता है और न इतनी शिक्षा मिल सकती है। इस मन-बहलाव के द्वारा हम जीवन को अनेक दृष्टिकोणों से देखते हैं। हम मनुष्यों को जीते-जागते और काम करते देखते हैं और उनमें हमें अपने ही चित्र दिखाई देते हैं। वे जब अपनी निम्नतम प्रवृत्तियों से संघर्ष करके ऊपर उठते हैं तो हमारा हृदय मनुष्य के प्रति सम्मान और गर्व से भर जाता है, और हम जीवन की कठोर चोटों को सहने के लिए तैयार हो जाते हैं। उदाहरण के लिए प्रेमचन्द के उपन्यासों को ही लो। 'रंगभूमि' के विजय और सूरदास और 'गोदान' का होरी ऐसे पात्र हैं जो हमें नई आदर्शवादिता से भर देते हैं। ये तीनों पात्र जीवन-भर परिस्थितियों से लड़ते

रहे और अन्त को मत्यु को प्राप्त हुए परन्तु इन्होंने अपने आदर्श की मशाल को जलाये रखा। यहाँ मृत्यु भी पराजय नहीं, विजय है। इनमें से कोई भी विजय का ढोल नहीं पीटता, परन्तु अन्याय के आगे सिर भी नहीं झुकाता। इन्होंने मर कर भी अपने सिद्धांतों को अमर बनाया है। सूरे, विनय और होरी जैसे उदात्त चरित्र किसे अनुप्राणित नहीं करेंगे। मृत्यु-शय्या पर पड़ा सूरदास कहता है: "सच्चे खिलाड़ी कभी रोते नहीं, बाज़ी पर बाज़ी हारते हैं, चोट पर चोट खाते हैं, धक्के पर धक्के सहते हैं, पर मैदान में डटे रहते हैं। उनकी त्यौरियों पर बल नहीं पड़ते। हिम्मत उनका साथ नहीं छोड़ती, दिल पर मालिन्य के छींटे भी नहीं आते, न किसी से वे जलते हैं, न चिढ़ते हैं। खेल में रोना कैसा! खेल हँसने के लिये है, दिल बहलाने के लिए है, रोने के लिए नहीं।" जो उपन्यास ऐसे जीवन-तत्त्व को कहानी का आधार बना कर चलता है, वह किसी भी संकोच के बिना तरुण-तरुणी के हाथ में दिया जा सकता है। वह उपन्यास नहीं है, जीवनसिद्धि का मंत्र है। परन्तु ऐसे उपन्यास कितने हैं? इसीलिए यह आवश्यक है कि अच्छे-बुरे उपन्यासों को अलग-अलग कर दिया जाये और तरुण-तरुणियों के हाथ में वही उपन्यास पड़ें जो जीवन-निर्माण में सहायक हों। अन्य भाषाओं से भी ऐसे उपन्यास अनूदित हो सकते हैं। फिर ऐसे उपन्यास भी हैं जो इतिहास का पुनर्निर्माण करते हैं या उच्च श्रेणी का मनोरंजन हमें देते हैं। अनेक उपन्यास सामयिक समस्याओं को कलात्मक ढंग से उपस्थित करते हैं। वे भी पठनीय हैं। सच तो यह कि आधुनिक युग में उपन्यास एक महान् अस्त्र है। वह जहाँ एक ओर चरित्र-निर्माण का सबसे सुन्दर साधन है, वहाँ दूसरी ओर सामयिक, राष्ट्रीय और सामाजिक समस्याओं का कलात्मक निरूपण है। अभी न

हमारे लेखक इस तत्व से पूर्ण रूप से अभिज्ञ हैं, न हमारे पाठक। फलतः उपन्यास केवल-मात्र मनोरंजन का विषय है।

परन्तु परिस्थिति बदल रही है और जैसे-जैसे समाज और राष्ट्र संस्कृति के ऊँचे धरातल पर चढ़ रहे है, वैसे-वैसे उपन्यासों की महत्ता स्वीकार की जा रही है और उनके पठन-पाठन का प्रबंध हो रहा है। आज समस्त संसार में अच्छे उपन्यासों की मांग है। प्रत्येक देश दूसरे देश के पास आ रहा है। सब देशों के उपन्यास सब देशों में पहुँच रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि उच्च सांस्कृतिक और चरित्र-निष्ठ उपन्यास शीघ्र ही हमारी शिक्षा के आवश्यक अंग बन जायेंगे। प्रीस्टले का 'कोल' हो, या तोलसताय का 'अन्नाकरीना' या प्रेमचन्द का 'गोदान'—यही आज के युग के महाकाव्य हैं। यह शोक का विषय है कि हम उपन्यासों के पठन-पाठन को उतना महत्व नहीं देते, जितना महत्व हमें देना चाहिये, परन्तु इसमें संदेह नहीं कि उपन्यासों का भविष्य उज्ज्वल है और वे भावी युगों की संस्कृति की सामान्य रूप-रेखा बनाने में सब से अधिक सहायक होंगे।

जायसी भी पद्मावत के अंत में आपने प्रतीक खोल देते हैं और सारी कथा को अध्यात्म-भावव्यंजक बना देते हैं। वे कहते हैं—

मैं एहि अरथ पंडितन्ह बूझा।
कहा कि हम्ह किछु और न सूझा॥
चौदह भुवन जो तर उपराहीं।
ते सब मानुष के उर माहीं॥
तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ दिखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?
नागमती यह दुनिया-धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बन्धा॥
राघवदूत सोई सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥
प्रेम-कथा एहि भाँति विचारहु।
बूझि लेहु जो बूझै पारहु॥
तुरकी, अरबी, हिंदुई, भाषा जेती आहिं।
जेहि महँ मारग प्रेम कर सबै सराहै ताहिं॥
मुहमद कवि यह जोरि सुनावा।
सुना सो पीर प्रेम कर आवा॥
जोरी लाइ रकत कै लेई।
गाढ़ि प्रीति नयनन्ह चल भेई॥

इस प्रकार पद्मावत की सारी प्रेम-कहानी जीव-ब्रह्म के पारस्परिक प्रेम और विरह-भाव का रूपक उपस्थित करती है। कथा के अंत में रतनसेन और पद्मावती लोप हो जाते हैं।

रह जाती है प्रेममार्ग की कठिन साधना और प्रेमपात्र का अनुपम सौन्दर्य। परंतु जायसी की कथा में परोक्ष-इंगित उतना व्यापक नहीं बन पाता जितना मानस में। विद्वानों ने रामचरितमानस पर भी इसी प्रकार का एक रूपक लादने की चेष्टा की है और तुलसी की राम-कथा को रहस्यकथा का रूप दे देना चाहा है। परन्तु तुलसी की राम की भावना जायसी की ब्रह्म-भावना में कम रहस्यमय नहीं है और उनके राम साधारण लोक-कथा के नायक नहीं हैं।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट हो जाता है कि केशव और बिहारी को छोड़ कर अन्य सभी महाकवियों से तुलसी उनके प्रकृत क्षेत्र में ही होड़ ले सकते हैं। केशव और बिहारी प्राकृत कवि हैं और प्राकृत कविता के संबंध में तुलसी का दृष्टिकोण इस प्रकार है:

कीन्हें प्राकृतजन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लागि पछिताना॥

शृंगार उनका प्रकृत-क्षेत्र नहीं है। तुलसी के नायक अलौकिक हैं। वे सीता-राम का शृंगार की निम्न भूमि तक उतार लाने के लिए तैयार नहीं हैं। सारे मानस में वे कहीं भी संयम से स्खलित नहीं हुए हैं। उन्होंने जहाँ सीता के सौन्दर्य का भी वर्णन किया वहाँ या तो उसकी व्यंजना मात्र की है, या उन्हें साथ ही जगज्जननि' कह कर उनके मंगल-रूप की ओर संकेत कर दिया है। दोहा-छंद में तुलसी बिहारी से कम सफल नहीं है और उन्हों ने नीति,धर्म, लोकव्यवहार और संतजीवन के सबन्ध में अनेक मार्मिक दोहे हमें दिए हैं। एक शृंगार का क्षेत्र ऐसा है जिसको तुलसी ने नहीं अपनाया। वे इस क्षेत्र से अपरिचित नहीं हैं। गीतावली में राम-सीता के विलास का जो चित्रण है, उससे हम सहज में ही ऐसा अनुमान कर सकते हैं परन्तु

उन्होंने अपार संयम से, दृढ़ इच्छा-शक्ति से शृंगारभाव को अपने काव्यक्षेत्र से बाहर निकाल दिया है। परन्तु रामचन्द्रिका और रामचरित-मानस की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि सहज कवि-प्रतिभा में केशवदास किसी भी भाँति तुलसी की पंगति में नहीं बिठाये जा सकते। तुलसी मूलतः भक्त-कवि थे और केशव मूलतः रसिक पंडित-कवि। जहाँ तुलसी के काव्य में वाणी का सहज स्फुरण है, वहाँ 'केशव की कविताई' पग-पग पर विलास-कटाक्ष करती, हाव-भाव दिखाती है। केशव के सर्वोत्तम स्थल उनके वर्णन हैं। यहाँ पर उनके वाग्वैदग्ध्य और कवि-चातुरी का अपूर्व योग मिलेगा, परन्तु तुलसी के वर्णन चमत्कार-भावना से शून्य होने पर भी हमें सहज ही मुग्ध कर लेने में समर्थ हैं। ये दोनों ही कवि जहां मानवजीवन के एक अंग मात्र (शृगार-भाव) को लेकर बैठ गये और ऊहापोह को कविता समझ बैठे, वहाँ तुलसी ने अपने युग के संपूर्ण मानव-भाव के लिए एक नये जीवन-दर्शन का विधान किया। फिर इन कवियों से उनकी तुलना कैसे हो ?

गीति-कवियों में स्वयं तुलसी का महत्वपूर्ण स्थान है। विद्यापति, सूर और मीरा के साथ इस क्षेत्र में उनका नाम भी लिया जाता है। विनयपत्रिका और गीतावली में उन्होने हमें अनेक सुन्दर गीत दिये हैं। परन्तु इसमें संदेह नही कि गीत तुलसी का प्रकृतक्षेत्र नही है। उनके गीतो में न उस कलात्मकता के दर्शन होते हैं, जो विद्यापति के गीतों में प्राप्त हैं, न सूर के गीतों जैसी व्यापकता और विविधता उनमें है, न मीरा के गीतों की संगीतमयता और आत्म-विभोरता। परन्तु फिर भी उनके साहित्य में ऐसे गीत

कम नहीं हैं जो कवियों के सर्वश्रेष्ठ गीतों के साथ रखे जा सकते हैं। यह भी ध्यान में रखना होगा कि गीत-काव्य साहित्य की एक विशेष कोटि है और यह तुलसी के लिए श्रेय की बात है कि उन्होंने काव्य की इस कोटि में भी महत्त्व-पूर्ण योग दिया है। पद-साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने जो बहुत कुछ लिखा वह उन्हें केवल-मात्र गीतिकारों के ऊपर उठा देता है। सहज नैसर्गिक कवि-प्रतिभा में कदाचित् सूर और मीरा तुलसी को पीछे छोड़ जाते हैं और काव्य-कला और विदग्धता में वह विद्यापति का साथ नहीं दे सकते, परन्तु रस-दृष्टि, चरित्र चित्रण प्रकृतिनिरूपण, मनोविज्ञान और कथासंगठन के क्षेत्र में वे अलग अलग इन तीनों कवियों से उत्कृष्ट हैं। सूरदास के सूरसागर को छोड़ कर कोई भी ऐसा ग्रन्थ नहीं है जो तुलसी के 'मानस' के साथ रखा जा सके और फिर सूरसागर की भी अपनी सीमाएँ हैं। उसमें कथा का सहज प्रवाह गीतात्मकता के कारण कुंठित हो गया है और लोकजीवन के निर्माण की कोई भी योजना उसमें नहीं है। मनुष्य-जीवन की जितनी अधिक दशायें, जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई हैं उतनी सूर ने नहीं। तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण के द्वारा जैसे विविध प्रकार के आदर्श खड़े किये हैं वैसे सूर के काव्य में अलभ्य हैं। सूर के काव्य में साम्प्रदायिकता की छाप अपेक्षाकृत अधिक है और उसमें लोकसंग्रह का लगभग अभाव है। यह स्पष्ट है कि तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है। सूर की प्रतिभा शृंगार और वात्सल्य तक सीमित रह कर एकांगी रह गई है।

रह गये जायसी और कबीर। जायसी का पद्मावत और तुलसी का 'मानस' दोनों वृहद् ग्रंथ हैं और भाषा,

छंद-योजना, शैली और मंतव्य की दृष्टि से उनमें बहुत कुछ समानता है परन्तु न तो तुलसी-जैसी कथा की योजना जायसी से सम्भव हो सकी है, न उन जैसे उदात्त चरित्र वे गढ़ सके हैं। तुलसी का काव्य देश को धर्म और दर्शन की सारी पूर्व-परंपराओं से बल ग्रहण करता है। वह केवल रामचरित या कथा-काव्य नहीं रह जाता। कबीर और तुलसी के क्षेत्र भिन्न हैं। कबीर का काव्य उनकी अनुभूति का बल पाकर बड़ा है। वे साधारण लिखे-पढ़े भी नहीं थे। उन्होंने स्पष्ट कहा है—'मसि कागद छूयौ नहीं।' वस्तुतः अनेक दृष्टियों से कबीर और तुलसी में महान अंतर है। वे मध्ययुग की प्रतिभा के विकास के दो छोर हैं। तुलसी को छोड़ कर और कोई भी हिन्दी-कवि कबीर की जनप्रियता से होड़ नहीं कर सकता। तुलसी सगुण को लेकर चले, कबीर ने निर्गुण का पल्ला पकड़ा। दोनों महात्माओं के विचारों की नींव ही भिन्न है। कबीर कहते हैं—

१—दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम कर मरम है आना॥
२—ता साहब के लागौं साथा।
दुख सुख मेटि जौ रह्यौ अनाथा॥
ना दशरथ घर औतारि आवा।
ना लंका का राव सतावा॥

तुलसी के लिए दाशरथि राम ही ब्रह्म हैं। वह 'राम नाम का मरम है आना' कहने वालों की भर्त्सना करते हैं—

तुम्हें जो कहा राम कोउ आना।
जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥

कहहिं सुनहि अस अधम नर ग्रसे जे मोह-पिशाच ।
पाषंडी हरिपद-विमुख जानहिं झूठ न सांच ॥

तुलसी को दशरथि राम में उससे कम विश्वास नहीं जितना विश्वास कबीर को अपने निर्गुण राम में है। वे कहते हैं—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा।
नहिं तहँ मोह-निसा लवलेसा।
सहज प्रकास-रूप भगवाना।
नहिं तहँ पुनि विग्यान विहाना॥
हरप विषाद ग्यान अग्याना।
जीवधर्म अहमिति अभिमाना॥
राम ब्रह्म व्यापक जग जाना।
परमानंद परेस पुराना॥

इस विषय में न हम तुलसी को छोटा कर सकते हैं न कबीर को दोनों के दो भिन्न दृष्टिकोण हैं। कबीर की बात वेद-पुराण-सम्मत भले ही नहीं हो उसमें आत्मानुभव का बल है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि तुलसी का संदेश परंपरापोषित होते हुए भी कबीर के संदेश से किसी प्रकार छोटे नही है।

प्राचीन कवियों की तुलना से यह स्पष्ट हो जाता है कि यदि किन्हीं कवियों को हम तुलसी के समकक्ष रख सकते हैं तो वे सूर और कबीर हैं। परंतु कबीर में केवल सदेश है कवित्व नहीं और सूर में सदेश का अभाव है। तुलसी में दोनो हैं और पर्याप्त मात्रा में हैं। फिर हम उन्हें अलग-

अलग इन दोनों कवियों से ऊँचा क्यों न समझें? सच तो यह है कि अनेक दृष्टिकोणों से तुलसी अपूर्व हैं। वे निभृत दीप-स्तंभ की भाँति सबसे अलग, सबसे ऊँचे, सबसे अधिक लोक-हित की भावना से ओतप्रोत हैं। वे भारतीय संस्कृति के सर्वश्रेष्ठ तत्त्वों और संस्कृत साहित्य की सर्वश्रेष्ठ निधियों का प्रतिनिधित्व करते हैं।

तुलसी के काव्य का अंतरंग और वहिरंग सौन्दर्य से पूर्ण है। काव्य के वहिरंग हैं भाषा, शैली और छद। तुलसी ने दो भाषाओं का प्रयोग किया है, अवधी और ब्रज, और इन दोनों भाषाओं में वह चिंतन, अनुभूति और कला की विश्व-विद्युत झंकारें उठा सके हैं। उन्होंने जिन-जिन काव्य-शैलियों और छंदों का प्रयोग किया उनमें अपूर्व सफलता पाई है। मुक्तक प्रबंध-काव्य, गति, लोक-छंद सब में वे इतने सफल हैं कि यह कहना कठिन है कि वे कहीं असफल या कम सफल भी हैं। परंतु उनके काव्य का अतरग—रस, कल्पना, चरित्र-चित्रण, भाव-जगत, कथानक, अध्यात्म—वहिरंग की अपेक्षा कहीं अधिक पुष्ट है। रसोद्रेक, भावसृष्टि और कल्पना के साथ संयम, पांडित्य और प्रतिभा को ऐसा विचक्षण समन्वय अन्यत्र नहीं मिलेगा।

और आधुनिक काव्य में कौन है जो तुलसी के समकक्ष रखा जा सके? अभी उसने अपने बाल-कवि ही हमें दिये हैं। अभी भाषा और छंदों का इतना परिमार्जन ही नहीं हुआ कि हम महाकवित्व का आशा करें। मैथिलीशरण, पंत, निराला प्रसाद और महादेवी आधुनिक काव्य के मुकुट हैं। इनमें महादेवी का काव्य निर्गुण संतों और मीरा की भूमि पर खड़ा है। उसकी अपनी अलग श्रेणी है। भावना की दृष्टि से मैथिलीशरण तुलसी के बहुत निकट हैं। वे उनकी तरह लोकहित और जनजीवन को समेट कर चले हैं, परन्तु काव्य

का वह आकाशचुम्बी कैलाश उनमें कहाँ है जो तुलसी को चिर महान बनाया है। पंत और निराला का काव्य कई दृष्टि-कोणों से महान हैं। उसमें नये युग की सौन्दर्यनिष्ठा और भावुकता को छंदों और गीतों का रूप मिला है, परन्तु वे भी तुलसी की ऊँचाई पर नहीं पहुँचते। पंत की कविता से हमें जन-जीवन के लिये नये संदेश की योजना अवश्य मिलती है, परन्तु अभी न तो वह काव्य-कला से पुष्ट हो पाई है, न उसमें भरतीय संस्कृति के श्रेष्ठतम तत्वों का समावेश हो सका है। प्रसाद और तुलसी में उतना ही अंतर है जितना कामायनी और रामचरित-मानस में। इसमें संदेह नहीं कि रामचरित-मानस का तीन शताब्दियों बाद आज कामायानी के रूप में हमें एक नया महाकाव्य प्राप्त हुआ है, परन्तु उसकी भित्ति निःसंदेह भिन्न है और वह जनमन में अपना स्थान बनाने में समर्थ नहीं है।

यह स्पष्ट है कि तुलसी हिन्दी साहित्य में आज भी बेजोड़ हैं। आज भी यदि कोई कवि उनके साथ बैठ सकता है, तो वह सूरदास ही हैं। किसी भी अन्य प्राचीन और आधुनिक कवि को उनके साथ स्थान नहीं दिया जा सकता। वे हिन्दी साहित्य में सर्वोच्च स्थान पर प्रतिष्ठित हैं, और उन्होंने अपने काव्य के माध्यम से हिन्दू धर्म, संस्कृति और लोकाचार को जो दिया है, यह अन्य किसी कवि ने नहीं दिया। सच तो यह है कि वह युग-द्रष्टा हैं। काव्य उनके युग-नेतृत्व का महान साधन है। आधुनिक युग में अभी हमें साधक, कवि और युग-द्रष्टा का वैसा संतुलित समन्वय प्राप्त नहीं हुआ है। जब तक ऐसा समन्वय प्राप्त नहीं होता, तब तक हिन्दी साहित्य में तुलसी का सर्वोच्च स्थान अक्षुण्ण है।

४

हिंदी काव्य में प्रकृति

१—भूमिका २—प्रारंभिक हिंदी काव्य में प्रकृति ३—संत और सूफ़ी काव्य में प्रकृति ४—भक्तकाव्य में प्रकृति ५ रीति-काव्य में प्रकृति का अलंकृत योग ६—आधुनिक कवियों की प्रकृति-संबंधी नई दृष्टि ७—छायावाद और प्रकृति ८—अति-आधुनिक कविता में प्रकृति का वस्तुवादी रूप।

हिंदी कविता का आरंभ विदेशी संघर्ष की गोद में हुआ। उस समय कवियों के पास इतना समय ही नहीं था कि वे प्रकृति के सौन्दर्य की ओर मुड़ते। फलतः डिंगल के चारण काव्य और वीर रसपूर्ण पुस्तकों में प्रकृति की सुषमा के दर्शन अधिक नहीं होते। जहाँ-तहाँ उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं में प्रकृति की जो थोड़ी बहुत झलक मिल जाती है, वह हमें चमत्कृत कर देने के लिए काफ़ी है, परन्तु प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता, उसके हाव-भाव, उसका विविध लीला-विलास हमें यहाँ नहीं मिलता। इसके बाद के काव्य में भी प्रकृति का रंग उभर कर हमारे सामने नहीं आता। संत-साहित्य प्रकृति की उपेक्षा करता है। वह आत्मा के द्वन्द और नैतिकता एव नैतिक आदर्शों के आलोक में लौकिक व्यवहार के प्रश्न सामने रख कर चला है। भौतिक सौन्दर्य के प्रति उसका दृष्टिकोण ही दूसरा है। यह संसार जब माया है तो प्राकृतिक सौन्दर्य भी छलावा है। इसमें भूल जाना आत्मा का नाश करना है। परंतु सूफ़ी कवियों का प्रकृति के प्रति एक विशेष

दृष्टिकोण है और उसने उनके काव्य में एक महत्वपूर्ण स्थान पाया है। ये कवि रहस्यवादी थे। इनकी दृष्टि में प्रकृति परमात्म सत्ता की ही अभिव्यक्ति है। वह दर्पण है जिसमें पुरुष का प्रतिबिंब पड़ता है। इसी से उन्होंने उसे चिदात्म की प्राप्ति का माध्यम माना है। उन्होंने प्रकृति का जो चित्र उपस्थित किया है, वह उनकी रहस्यानुभूतियों में रँगा होने के कारण अतिरंजित है। साथ ही वह जीवित, स्पंदित और सहानुभूतिशील है। साधक के दुख-सुख के साथ प्रकृति भी दुख-सुख का अनुभव करती है। सूफियों ने विरह को प्रेम की चरम अभिव्यक्ति माना है। इससे उनकी प्रकृति भी क्रन्दनशीला, पुरुष-परित्यक्ता, आजीवन विरहिणी है।

फिर भी यह निश्चित है कि संतों और सूफियों के काव्य में कभी-कभी प्रकृति की बड़ी सुन्दर झाँकी मिल जाती है और मन अध्यात्म-भाव से ओतप्रोत हो जाता है। सिद्धावस्था के आनंद का वर्णन करते हुए कबीर गाते हैं—

गगन गरजै बरषै अमी, बादल गहर गँभीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर॥
गगन-मण्डल के बीच में तहवाँ झलके नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुँचैंगे भरपूर॥
गगन गरजि अमृत चुवै, कदली कँवल प्रकास।
तहाँ कबीरा बंदगी, कै कोई निज दास॥

तो जायसी लंकाद्वीप का वर्णन करते हुए उसे अलौकिकता से रंजित कर देते हैं—

ताल तलाब बरन नहिं जाहीं।
सूझै वारपार किछु नाहीं॥

फूले कुमुद सेत उजियारे।
मानहु उए गगन मह तारे॥
उतरहिं मेघ चढ़ेहिं लेइ पानी।
चमकहिं मच्छ बीज कै बानी॥

वह पृथ्वी और आकाश के बीच में एक मात्र प्रेमतत्त्व का सागर देखते हैं—

सरग सीस, धर धरती, हिया सो प्रेम समुंद।
नैन कौड़िया होइ रहै, लेइ लेइ उठहिं सो बुन्द॥

आकाश शीश है, धरती धड़ है, हृदय में जो समुद्र हिलोरें मार रहा है, वह प्रेम हैं। नेत्र कौड़ी मात्र हैं। वे बूंद बूंद भर कर इस प्रेम-समुद्र को कैसे उलीच सकेंगे? चिदात्म के हृदय में जीवात्मा-मात्र के लिए प्रेम की जो अपार निधि युग-युग से संचित है, प्रकृति-रूपक के द्वारा उसकी इससे सुन्दर अभिव्यंजना और क्या होगी?

भक्तकाव्य की दृष्टि भी अपने आदर्शों के कारण संकीर्ण हो गई। भक्तकवि की सारी सहानुभूति, उसके हृदय-मन की सारी चेतना इष्टदेव पर ही केन्द्रित है और उसने प्रकृति को उसी समय देखा जब उसे किसी नीतितत्त्व की स्थापना करने की आवश्यकता हुई अथवा उस प्रकृतिखंड का कोई धार्मिक महत्व हुआ। रामचरितमानस का वर्षा-शरद-वर्णन पहली प्रवृत्ति को सामने लाता है। वर्षाऋतु में मयूरों को नृत्य करते हुए देख कर तुलसी को विह्वल भक्तों की याद आ ही जाती है—

लछिमन देखहु मोरगन नाचत बारिद पेखि।
गृही बिरत रत हर्ष जस बिस्नु भगत कहुँ देखि॥

और शरद की निर्मल जलधारा उन्हें संत-हृदय की सहज निर्मलता की ओर इंगित करती है—

सरिता सर निर्मल जल सोहा। संत हृदय जस गत मद मोहा॥

यह प्रवृत्ति तुलसी के सारे काव्य पर छाई हुई है, यद्यपि ऐसे भी कुछ स्थल हैं जहाँ प्रकृति की सरल सुन्दरता के प्रति कवि सहज ही आकर्षित हो गया है। उदाहरण के लिए 'गीतावली' का यह चित्रकूट वर्णन है—

सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु-रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुरमुनि भृंगनि॥
सिखर-परस घन-घटहि मिलति बग-पाँति सो छवि कवि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी॥
जल जुत बिमल सिलनि झलकत नभ बन प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना विचित्र बिलसति विराग अंग-अंग॥
मंदाकिनिहिं मिलत झरना झरि-झरि भरि-भरि जल-आछे।
तुलसी सकल सुकृत सुख लागे मानौ रामभगति के पाछे॥

यह सब है, परन्तु तुलसी राम, भरत और चित्रकूट जैसे पुण्य स्थलों से अलग नहीं हटते। वह प्रकृति को अपने ढंग पर, अपने नैतिक और धार्मिक मूल्यों पर ही ग्रहण करते हैं।

कृष्ण-शाखा के कवियों ने अपने आराध्य को सौन्दर्य और प्रेम की अन्यतम विभूति मानकर प्रकृति की उपासना की। स्वयम् कृष्ण-चरित्र का संबंध ब्रज से था। ब्रज की प्राकृतिक सुषमा अत्यंत मनोमुग्धकारी है। इसलिए लोकनायक के चरित्र के साथ ब्रजभूमि के प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण भी उपस्थित हुए। ब्रजकाव्य की प्रकृति गोपियों के हृदय की परछाई है। उसके दर्पण में उनके हृदय के अनुभाव-विभाव

प्रतिबिंबित होते हैं। प्रकृति और मनुष्य की अन्यतम भावनाओं का यहाँ इतना एकात्म मिलता है कि हम चकित रह जाते हैं। शरद-रास का वर्णन करते हुए कवि गाता है—

जैसिय शरद चाँदनी निर्मल तैसोइ रास-रंग उपजायो।
तैसिय कनक बरन सब सुन्दरि यह शोभा पर मन ललचायो॥
तैसी हंस-सुता पवित्र तट तैसेइ कल्पवृक्ष सुखदायो।
सुन्दर संग ललना विहरी, बसन्त सरल ऋतु आयी॥
लै लै छरी कुँवरि राधिका, कमल-नयन पर धायीं।
द्वादस बन रतनारे देखियत, चहुँ दिसि टेसू फूले॥
बौरे अँकुआ औ द्रुमबेली, मधुकर परिमल भूले।
सरिता सीतल बहत मंद गति, रवि उत्तर दिसि आयो॥
प्रेम उमगि कोकिला बोली बिरहिन बिरह जगायो।
ताल-मृदंग, बीन, बाँसुरि, डफ, गावत मधुरी वानो॥
देत परस्पर गारि मुदित ह्वै, तरुनी वाल सयानो

ऐसे सुन्दर वर्णन सचमुच हिन्दी-काव्य की अमूल्य निधि हैं।

हिन्दी काव्य को संस्कृत काव्य-परंपरा और संस्कृत-रीति को विकसित और निश्चित भूमि मिली। इससे जहाँ उसके विकास में सहायता हुई, वहाँ उसका दृष्टिकोण भी संकीर्ण हो गया। यह बात हिन्दी के प्रकृतिचित्रण की ओर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाती है। जब कवि के पास एक विकसित साहित्य होता है जिसके उपमेय, उपमान और प्राकृतिक एवं मानवी चित्र निश्चित होते हैं तो कभी-कभी उसे उनके प्रति लोभ हो जाता है और स्वयं अपने चारों ओर देखने को अपेक्षा वह यह कहीं अच्छा समझता है कि साहित्य के माध्यम से वस्तु-

जगत को देखे। इससे जहाँ एक ओर साहित्य के एक युग की कड़ी अन्य युग से अविच्छिन्न रूप से जुड़ी चलती है, वहाँ दूसरी ओर प्रकृति और जीवन के नये प्रतीकों और उपमानों के समावेश न होने के कारण साहित्य में रूढ़िवादिता आ जाती है और वह समय से पीछे पड़ जाता है।

संस्कृत काव्य में जो उपमान प्रकृति से लिए गये थे, वह अब हमारे प्रत्येक दिन के अनुभव में नहीं आते। वह उस समय लिये गये थे जब नागरिक जीवन प्रकृति से इतनी दूर नहीं गया था जितनी दूर वह आज है। इसी कारण वह प्रभावशील थे। कमल, मृग, कीर, खंजन, लता—ये आज कल्पना की वस्तुएँ हैं, परन्तु हमारा साहित्य युगों से इनमें सोचता रहा है। इसका फल यह हुआ कि हमारे सारे प्राचीन काव्य में कवियों ने प्रकृति को अपने पूर्ववर्ती साहित्य के भीतर से देखा है, फिर चाहें सूरदास की तरह वे प्रकृति के बीच में घिरे ही क्यों न रहे हों।

रीतिकाल की तुलना अंग्रेजी के पोप और ड्राइडन के काल से की जा सकती है। इस समय जो कविता हुई वह पूर्णतयः नागरिक थी। उसका विकास नगरों में हुआ। उसमें या तो प्रकृति को कोई स्थान ही नहीं मिला था या उसका परपंराबद्धरूप ही स्वीकृत हुआ था। वह भी शृंगार रस के भावों, विभावों और अनुभावों के साथ उद्दीपन के रूप में। रीतिकाल की प्रकृति स्वतंत्र नहीं हैं। वहाँ उसकी बाढ़ रुक - सी गई है। वह कवि की दासी है और उसके बुलाने-चलाने पर वेश्या की तरह अनैसर्गिक शृंगार में सजकर सामने आती है। गृहिणी जैसा सरल, निश्चल और पातिव्रतपूर्ण

व्यवहार उसका नहीं है। प्रभातकालीन सूर्य का वर्णन केशवदास ने इस प्रकार किया है—

अरुण गात अति प्रात, पद्मिनी प्राणनाथ भय
मानहुँ केशवदास कोकनद, कोक प्रेममय
परिपूरण सिंदूर पूर कैधौं मंगल-घट
किधौं इन्द्र को छत्र मढ्यो माणिक मयूख पट
कै शोणित कलित कपाल यह, किल कपालिका काल को
यह ललित लाल कैधौं लसत, दिग्भामिनि के भाल को

(सूर्य प्रातः-काल अति लाल होकर उदय हुए हैं, मानों कमल और चक्रवाक का जो प्रेम हृदय में है, वह बाहर निकल आया है। या कोई सिन्दूर से रंगा हुआ मंगल-घट है। या इन्द्र का छत्र है जो माणिक की किरणों से बुने हुए कपड़े से बनाया गया है। या निश्चयपूर्वक काल-रूपी कापालिक के हाथ में यह किसी का रक्त-भरा सिर है, या पूर्व दिशा-रूपी स्त्री के मस्तक का माणिक है।) कल्पना का इस प्रकार का ऊहापोह रीतिकालीन प्रकृतिवर्णन की विशेषता है। वस्तुतः रीतिकालीन कवि ने प्रकृति को प्रोषित्पतिकाओं और अभिसारिकाओं के भीतर से देखा है, अपनी आँखें बन्द कर ली हैं। वह दूज की चंद्रकला से उतना प्रभावित नहीं होता जितना नवव्यस्का नायिका के चन्द्र-मुख-दर्शन से! सखी कहती है—

द्वैज सुधा दीधित कला वह लखि डीठि लगाय
मनो अकास अगस्तिया एकै कली लखाय

आधुनिक काल में प्रकृति को स्वतंत्र रूप से काव्य का विषय बनाया गया है। १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पंडित श्रीधर पाठक के काव्य से यह प्रवृत्ति चली। द्विवेदी युग में यह प्रवृत्ति

और भी विकसित हुई। पश्चिमी सभ्यता के साथ नगरों का जीवन तेजी से बदल रहा था। प्रकृति के जो चिन्ह विलासता के पिछले युग से संबंधित थे, वे अब नष्टप्राय थे। आर्थिक संघर्ष ने जीवन को और भी जटिल, और नीरस बना दिया था। इससे कवियों की दृष्टि प्रकृति की ओर गई। वे नगर के रहने वाले थे। उनकी भावुकता और सहानुभूति कभी काश्मीर की प्राकृतिक सुषमा पर जाती, कभी ग्राम्यजीवन की ग्राम्य प्रकृति की ओर। नवयुग के कवियों ने जीवन की कटुता के प्रति भावुक विद्रोह किया और अपनी भावनापूर्ण प्रवृत्ति के कारण उसकी उपेक्षा कर उन्होंने उसे आँख की ओट करना चाहा। उन्होंने पुकारा—'प्रकृति की ओर लौटो'। परन्तु प्रकृति की ओर उनका झुकाव मानव का नैसर्गिक प्राकृतिक आकर्षण नहीं कहा जा सकता। उनके दृष्टिकोण में आसक्ति-पूर्ण भावुकता की प्रधान थी और वह शीघ्र ही प्रकृति की सुषमा और प्राकृतिक तत्वों में रहस्यवाद के उपकरणों का आरोप करने लगे।

सच तो यह है कि इन कवियों के प्रकृति-चित्र उनकी रहस्य-वादी अथवा स्वच्छंदतावादी भावनाओं के कारण अति-रंजित हैं। उनमें न प्रकृति की सहज स्वाभाविकता है, न स्वच्छंदता, न विशदता। पंत का प्रारंभिक प्रकृति-वर्णन उनकी विस्मय-भावना से प्रभावित है। प्रकृति का कोई स्वस्थ चित्र सामने नहीं आता। 'बादल' का क्या चित्र इन पंक्तियों के द्वारा बन सकेगा—

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धूल,
अनिल-फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि-वसन, वसुधा के मूल।

नभ में अवनि, अवनि में अंबर,
सलिल-भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम, पावक के तूल!

इसी तरह जहाँ डा० रामकुमार वर्मा 'फटे-से बादलों में' किसी के हास द्वारा मधुमास के आने की कल्पना करते हैं या महादेवी प्रकृति में प्रियतम की छवि देखती रहती हैं—

धर कनक-थाल में मेघ
सुनहला पाटल-सा,
कर बालारुण का कलश
विहग-रव मंगल-सा
आया प्रिय पथ में प्रात—
मैं पहचानी नहीं!

तो वे प्रकृति की सुषमा पर अपनी आध्यात्मिक स्फूर्ति का ही आरोप करते हैं और उसमें अपने व्यक्तित्व को बलिदान कर देते हैं। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि पंत, निराला, प्रसाद और महादेवी के काव्य में प्रकृति के अनेक ऐसे इंगित, ऐसे रूपरंग, ऐसे क्रीड़ा-कौतुक रेखाबद्ध हुए हैं जो पहले हिंदी कवि की पकड़ में नहीं आए थे। ऐसे चित्रों के लिए हिन्दी प्रकृति-काव्य सदैव उनका आभारी रहेगा। प्रकृति के महान रूपों के प्रति आकर्षण निराला के काव्य-व्यक्तित्व का प्रधान अंग है। 'परिमल' की अनेक रचनाओं में उन्होंने बाधा-बंधन-हीन प्रकृति का चित्रांकन उपस्थित किया है। इस श्रेणी की उनकी सबसे प्रसिद्ध कविता 'बादल-राग' है जिसमें

हमें भाषा-सामर्थ्य और नादात्मकता का सर्वोत्कृष्ट रूप मिलता है। बादल स्वयं कवि के उदात्त व्यक्तित्व और उसके विद्रोह का प्रतीक बन जाता है। इसी तरह 'जागो फिर एक बार' में हमें प्रकृति के स्वस्थ सौन्दर्य की एक अत्यंत आकर्षक झाँकी मिलती है और प्रकृति-चित्र के पीछे आत्मा के अनंत सौन्दर्य और जीव-ब्रह्म के अभेदत्व का संकेत भी मिल जाता है। शुद्ध प्रकृति चित्र भी कम नहीं हैं। उनके गीतों की प्रकृति-सुषमा तो निराली है ही। पंत की कविताओं में भी प्रकृति के अनेक रूपों को सौन्दर्य की रेखाओं से दीप्त कर उभारा गया है। 'पल्लव' के बाद उन्होंने प्रकृति को सहज सौन्दर्यवादी कवि की आँखों से देखा और उसे चिंतन, कला और भाषा की सारी सुषमा से परिवेष्ठित कर उपस्थित किया है। इन कविताओं में प्रकृति उनके प्राणों की उन्मन गुंजन मात्र है। 'एक तारा', 'नौका-विहार', 'विजन घाटी', 'अल्मोड़े का वसंत', 'झंझा में नीम', 'मधुप्रात' जैसी अनेक कविताओं ज्योत्सना (रूपक) में कवि ने प्रकृति के शत-शत श्वासोच्छ्वासों को मुखरित किया है। वस्तुतः निराला और पंत के काव्य में सामूहिक रूप से हिंदी प्रदेश की सारी प्राकृतिक सुषमा आ गई है। आधुनिक कवियों में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को छोड़ कर कदाचित बड़ी इतनी चित्रपटी और किसी एक अन्य कवि के काव्य में नहीं मिलेगी।

परंतु नवीनतम कवियों ने प्रकृति के प्राकृत रूप की ओर भी दृग्पात किया है। गुरुभक्तसिंह भक्त और नैपाली ने हिंदी प्रकृतिकाव्य में इस दृष्टिकोण का सूत्रपात किया। कुछ अन्य कवि भी प्रतिदिन के दृश्यों में सौन्दर्य की स्थापना में सफल

हुए हैं। उन्होंने उपेक्षित क्षेत्रों में प्रवेश किया है और उन्हें साहित्य, कल्पना और कला की दीप्ति दी है। यद्यपि उनका दृष्टिकोण अब भी आदर्शवाद में प्रभावित है, फिर भी वह प्रकृति के बहुत समीप हैं। गुरुभक्तसिंह के 'नूरजहाँ' काव्य में प्रकृति का जैसा सुन्दर, चिरपरिचित, यथार्थ चित्रण है, नगर-ग्राम के फल-फूलों, पशु-पक्षियों, लता-बेलों का जैसा परिचय हैं, वैसा अन्यत्र कम मिलेगा। छायावादी कवि अंग्रेज़ी के रोमांटिक कवियों के काव्य से प्रभावित थे। उनके आदर्श थे शैली और रवीन्द्र। परंतु ये नए कवि फ्रांस के प्रकृतिवादी कवियों और वर्डस्वर्थ की परंपरा को ही आगे बढ़ाते थे। कविता प्रतिदिन की सरल भाषा में हो और उसमें प्रकृति के यथार्थ चित्र चित्रकार की तूलिका की स्निग्धता के साथ अंकित किये जायें, किसी प्रकार का अतिरंजन न हो—यह विचार हमारे काव्य-साहित्य के लिए नवीन था। फलतः प्रकृति-चित्रों की एक नई चित्रबेला तैयार हो गई। दिनकर जैसे कुछ कवियों ने छायावादी कवियों और इन प्रकृतिवादी कवियों के बीच के मार्ग का अनुसरण किया। इसमें संदेह नहीं कि इन कवियों का काव्य हमारी प्राकृतिक सुषमा का अपार वैभव लेकर उपस्थित हुआ और उसने सैकड़ों पाठकों का हृदय मोह लिया।

कविता में यथार्थवाद की जो नई धारा आ रही है, वह प्रकृति के अन्यतम पार्श्व में प्रवेश करती है। बालेन्दु और डा० रामविलास शर्मा की कुछ कवितायें द्रष्टव्य हैं। 'चंदगहना से लौटती बेर' कविता में बालेन्दु कहते हैं—

और सरसों की न पूछो!
हो गई सब से सयानी;

हाथ पीले कर लिये हैं
ब्याह-मंडप में पधारी !
फाग गाता मास फागुन
आ गया हो पास जैसे !
देखता हूँ मैं स्वयंबर हो रहा है !
प्रकृति-अंचल हिल रहा है
इस विजन में
दूर व्यापारी नगर से.........

प्रेम की प्रिय भूमि उपजाऊ अधिक है.........

और 'शारदीया' में डा० रामविलास कंचन में डूबे हुए खेतों का एक दृश्य यों उपस्थित करते हैं—

सोना ही सोना छाया आकाश में,
पश्चिम में सोने का सूरज डूबता,
पका रंग कंचन जैसा तपा हुआ।
भरे ज्वार के भुट्टे पक कर झुक गये।
'गला गला' कर हाँक रही गुफना लिए
दाने चुगती गलिरयों को, खड़ी।
सोने से भी निखरा जिसका अंग है,
भरी जवानी जिसकी पक कर झुक गई।

छायावाद की अमूर्त कल्पना-प्रधान, वर्णच्छटामयी नारी-रूप में साकार प्रकृति अब के कवि की प्रकृति नहीं रही। कवि का आग्रह है कि सीधी-साधी भाषा में गाँव-नगर के वातावरण की पृष्ठभूमि में प्रकृति का चित्र उपस्थित करे। एक चित्र देखिये—

शिशिर की साँस यह
ठहरी है खेतों पर ठंडी ओस लिए,

धूल भरे गलियारों पर
लौट गये थके माँदे घर को कभी किसान;
नगर की गलियों में
छाया हुआ काला धुँवा दबा हुआ ओस से।
लहू की बूँदों से
जलते हैं बल्व सूनी सड़कों पर लाल लाल।
शिशिर की रात यह निश्चिंत
सोते हैं जन मानो दीर्घ कालरात्रि में।

यह स्पष्ट है कि हिंदी कविता की नई धारा में प्रकृति के प्रति कवि का दृष्टिकोण बदल गया है—सच तो यह है कि उसके लिए काव्य का मूल्य ही वह नहीं रहा—और सुन्दर-असुन्दर एक ही तूलिका के नीचे नई शक्ति से प्राणवान हो उठा है। आज भी हिंदी कविता में प्रकृति-संबंधी ये कई दृष्टिकोण चल रहे हैं और इसमें संदेह नहीं कि ये दृष्टिकोण शीघ्र ही कला, संयम और सौन्दर्य से पुष्ट होंगे और हमारा प्रकृति-काव्य संसार के श्रेष्ठतम काव्य के साथ रखा जा सकेगा।

५

वैष्णव काव्य

१—'वैष्णव' शब्द के संकीर्ण और व्यापक अर्थ २—वैष्णव कौन ? ३—संत और वैष्णव का भेद मूलतः ज्ञान और भक्ति का भेद ४—वैष्णव साहित्य रूप सौन्दर्य और प्रेम का उपासक है ५—वैष्णव काव्य की कुछ विशेषताएं ६—संत और वैष्णव साहित्य के तुलनात्मक पक्ष ७—उपसंहार ।

'वैष्णव' शब्द का एक संकीर्ण अर्थ है और एक व्यापक अर्थ भी है । संकीर्ण अर्थों में 'वैष्णव' से विष्णुभक्त का तात्पर्य है । विष्णु के सभी अवतार वैष्णवों को विष्णु की तरह ही प्रिय हैं । विशेषतः उनके राम-कृष्ण अवतार । फलतः वैष्णव भक्त से रामभक्त और कृष्ण भक्त का अर्थ निकलता है । परन्तु व्यापक अर्थ में 'संत' भी 'वैष्णव' के अंतर्गत आते हैं । वैष्णव की परिभाषा-संबंधी एक गुजराती पद है—

वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीड़ पराई जाणे रे
पर-दुःखे उपकार करे तोये, मन अभिमान न आणे रे
सकल लोक माँ सहुने वंदे, निन्दा न करे केनी रे
वाच काछ मन निश्चल राखे, धन-धन जननी तेनी रे
समदृष्टिने तृष्णा त्यागी, पर-स्त्री जेने मात रे
जिह्वा कभी असत्य न बोले, पर धन नवसाले हाथ रे

इस परिभाषा में वैष्णव की जो विशेषताएँ कही गई हैं वे 'संत' की विशेषताओं से भिन्न नहीं है। वास्तव में संत-मत के नैतिक सिद्धांतों से वैष्णव भक्तों को कोई विरोध नहीं है। वे सब भी क्षमा, दया, अहिंसा, गुरु-पूजा, दम-शम आदि पर बल देते हैं। तुलसी ने स्पष्ट कहा है—

षट विकार जित अनघ अनामा।
अचल अकिंचन सुचि सुख धामा॥
अमित बोध अनीह मित भोगी।
सत्यसार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मदहीन।
धीर धर्मगति परम प्रवीना॥

गुनागार संसार दुख रहित विगत संदेह।
तजि मम चरन सरोज प्रिय तिन्ह कहुँ देह न गेह॥

निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं।
पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती।
सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥
जय-तप-व्रत-दम संजम-नेमा।
गुरु गोविन्द विप्र पद प्रेमा॥
श्रद्धा छमा मयत्री दाया।
मुदित मम पद प्रीति अमाया॥
विरति बिबेक विनय बिग्याना।
बोध जथारथ वेदपुराना॥
दंभ मानमद करहि न काऊ।
भूलि न देहिं कुमारग पाऊ॥

गावहिं सुनहिं सदा मम सीला।
हेतु रहित परहित रत सीला॥

तो फिर भेद कहाँ है ? भेद दोनों साहित्यों की आधारभूमि में है। संत-साहित्य अरूप का उपासक है, वैष्णव-साहित्य रूप का। संत अवतारवाद का विरोध करते हैं, उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की ज्ञानमूलक प्रेम-साधना को उपादेय माना है। वे मुक्ति को साध्य मानते हैं, ज्ञान और प्रेम को साधन। पहले ज्ञान, फिर प्रेम। वैष्णव भक्तों की आस्था एक मात्र सगुण, अवतारी, भक्त वत्सल ब्रह्म पर है। उसके साधन और साध्य ब्रह्म के सगुण लीला-रूप (राम-कृष्ण) की भक्ति ही है। वे चिल्ला कर कहते हैं—'केवल ज्ञान से भगवान की प्राप्ति कठिन है, हाँ, हो अवश्य सकती है। सरल मार्ग चलो।' इसी से वे ज्ञान को अव्यवहारिक मान कर उद्धव की हंसी उड़ाते हैं। कृष्णकाव्य का भ्रमरगीत-प्रसंग ज्ञान पर भक्ति की महत्ता सिद्ध करने की ही चेष्टा है। उद्धव कृष्ण से कहते हैं—

तम पठवत गोकुल को जैहों।
जो मानिहैं ब्रह्म की बातैं तो उनमों मैं कैहों।
गदगद बचन कहत मन प्रफुलित बार-बार समुझैहों॥
आजुई नहीं करौं तुव कारज कौन काज पुनि लैहौं।

गोपियों के बीच में पहुँच कर वह ब्रह्मवाद, योग और निर्गुण की रहस्यमयी अनुभूति की बातें कहते हैं परन्तु गोपियाँ कहती हैं—

जोग ठगौरी ब्रज न बिकैहै।
यह ब्यौपार तिहारौ ऊधौ ऐसोई फिरि जैहै॥

जा पै लै आए हौ मधुकर ताके उर न समैहै।
दाख छाँडि कै कटुक निबौरी को अपने मुख खैहै॥
मूरी के पातन के केना को मुक्ताहल दैहै।
सूरदास प्रभु गुनहि छाँड़ि कै को निर्गुण निरबैहै॥

जीत गोपियों की ही होती है। उद्धव उन्हीं के रंग में रंग कर ब्रज से लौटते हैं।

सच तो यह है कि यदि हम अपने साहित्य को समाज की पृष्ठभूमि में रख कर देखें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि समाज की मनोवृत्ति हमारी आध्यात्मिक साधना को धीरे-धीरे नीचे खींचती है। हम क्रमश: ऐसे आन्दोलनों को उठ खड़ा होते देखते हैं जो निरंतर अधिक सहज साधना का मार्ग बताते हैं। हठयोग से सहज समाधि और सहज समाधि से कथाकीर्तन। रूप की अवहेलना से उतर कर रूप में आसक्ति। हमारी अध्यात्म-भूमि निरंतर अधिक मानवीय भूमि के निकट आती रही है। यहाँ तक कि अंत में हम राधा-कृष्ण को लेकर सहज स्त्री-पुरुष के प्राकृत प्रेम-व्यवहारों तक पहुँच जाते हैं।

यह वैष्णव साहित्य रूप-सौन्दर्य और प्रेम का उपासक है। उसकी भक्ति आसक्ति-प्रधान है। इस भक्ति का रूप कहीं एकांगी है जैसे कृष्ण कवियों के काव्य में, कहीं वह एक व्यापक जीवनदृष्टि को साथ लेकर चलता है और उसे जीवन-निर्माण के लिए केन्द्रबिन्दु बना लेता है जैसा तुलसी के राम-चरितमानस में। सूरदास यह प्रश्न नहीं करते कि भक्ति से क्या होगा। उनका मार्ग स्पष्ट है—

नाहिंन रह्यौ मन में ठौर!
नंदनंदन अछत कैसे आनिए उर और?

चलत चितवत, दिवस जागत, सपन सोवत रात।
हृदय तैं वह स्याम मूरति छन न इत-उत जाति॥
कहत कथा अनेक ऊधौ लोकलाभ दिखाय।
कहा करौं तन प्रेम पूरन घट न सिंधु समाय॥
स्याम गात सरोज आनन ललित अति मृदुहास।
सूर ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास॥

तुलसी यह प्रश्न करते हैं, परंतु इस प्रश्न का समाधान भी उनके पास है—

धर्म तें विरति जोग तें ग्याना।
ग्यान मोच्छप्रद वेद बखाना॥
जातें बेगि द्रवउं मैं भाई।
सो मम भगति भगत सुखकाई॥
सो सुलंब अवलंब न आना।
तेहि आधीन ज्ञान-विग्याना॥
भगति तात अनुपम सुखमूला।
मिलइ सो संत होइँ अनुकूला॥

अब यह तो स्पष्ट ही है कि वैष्णव काव्य मुख्यतः आध्यात्मिक काव्य है। परंतु उसमें काव्य के गुण भी हैं। रस अलंकार, भाषा-सौन्दर्य, चरित्र-चित्रण, कथा-सौष्ठव, सौन्दर्य-निष्ठा, मानवीय भावनाएँ—ये सभी तो काव्य के अंग हैं। यहाँ ये प्रचुर मात्रा में मिलेंगे। यह काव्य भी है, अध्यात्म भी। यहाँ सब रस हैं, परंतु वे लोकोत्तर बन गये हैं। सब लीला-मात्र से संबंधित हैं। वास्तव में भक्त के लिए एक मात्र 'भक्तिरस' ही उपादेय है। अन्य रस लीलामात्र हैं जैसे समुद्र में तरंग। उसी में उठे, उसी में लय होते। वस्तुतः वैष्णव काव्य का

अध्ययन करते समय हमें वैष्णव कवियों के दृष्टिकोण को नहीं भूल जाना चाहिये। उन्होंने रस की सृष्टि रसों के लिए नहीं की। काव्य का रस अध्यात्म के रस से भिन्न है। उदाहरण के लिए क्रोध का काव्य-रस में एक निश्चित स्थान है। वैष्णव काव्य में वह लीलामात्र है। उससे भक्ति की ही पुष्टि होगी। यही बात शृंगार के मूल में भी है। कृष्ण भक्त कवियों ने आचार्यों की गवेषणाओं से लाभ उठाया है परंतु उन्हें रीतिकवियों के मापदंड से नापना उचित नहीं है। कृष्ण-काव्य और राम-काव्य के कवियों में आलंबन का सौन्दर्य, लीला-प्रेम, कल्पना का प्राधान्य, कोरे ज्ञान का विरोध, विनय-याचना—ये कुछ विशेषताएं समान रूप से मिलती हैं, परन्तु राम-काव्य को तुलसी ने कथा की व्यापक भूमि पर प्रतिष्ठा किया है और उसमें अन्यतम भौतिक भावनाओं की प्रतिष्ठा की है। कृष्णकाव्य की विशेषता है प्रेम का चित्रण। यह दो रूपों में हमारे सामने आता है। स्त्री-पुरुष के प्रेम-व्यवहार के रूप में (शृंगार) और पिता-माता एवं पुत्र के मधुर संबंध के रूप में (वात्सल्य)। दोनों पक्षों में संयोग-वियोग के अनेक अत्यंत उत्कृष्ट चित्र मिलते हैं। एक प्रकार से हम कह सकते है कि कृष्णकाव्य कल्पनाप्रधान और वस्तुवादी है, रामकाव्य नैतिकता-प्रधान और यथार्थवादी। कृष्णकाव्य का अधिकांश अनेक पुराणों में होकर हमारे सामने आया है और जिस सम्प्रदाय में से होकर आया है, उसके नित्य और नैमित्तिक कर्म एवं उसके आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विचारों की छाप उस पर लगी है। रामकाव्य सम्प्रदायों को पीछे छोड़ गया है। वह प्रत्येक भारतीय हृदय के निकट है। इतना व्यापक रूप हिंदी के किसी काव्य को नहीं मिला है।

संत और वैष्णव काव्य की तुलना करने पर और

भी महत्वपूर्ण बातें मिलती हैं। दोनों प्रकार के वैष्णव काव्य मुख्यत: समाज के ऊपर के धरातल की उपज हैं। संत काव्य का निर्माण निचले धरातल ने किया है। इस प्रकार जहाँ कृष्ण-काव्य और रामकाव्य में संतोष की भावना है, वहाँ संतकाव्य में असंतोष के अंकुर छिपे हैं। इसी कारण भाषा, भाव, और अभिव्यक्ति की शैलियों में भी विभिन्नता है। वस्तुत: १६ वीं शताब्दी को हम हिंदू-पुनरुत्थान की शताब्दी कह सकते हैं। हिंदुओं ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए पुराणों को देखा। उन्होंने राम और कृष्ण को केन्द्र बनाकर समाज में मर्यादा बाँधने की चेष्टा की। हिंदू स्मृति-ग्रन्थों के अनुवाद हुए। भाषा में भी तत्सम शब्दावली की प्रधानता हुई। यह पुनरुत्थान की भावना सारे वैष्णव साहित्य में ओतप्रोत है।

संक्षेप में, वैष्णव साहित्य की यह स्थिति है। वह हिंदी का स्वर्ण-साहित्य है। उसमें उसके युग की साधना और कवि-चिंता एक ही साथ प्रतिष्ठित हो सकी है। हिन्दी साहित्य में से यदि वैष्णव कवियों के काव्य को निकाल दिया जाये तो जो बचेगा वह इतना हलका होगा कि हम उस पर किसी भी प्रकार गर्व नहीं कर सकेंगे। लगभग ३०० वर्षों की इस हृदय और मन की साधना के बल पर ही हिन्दी अपना सिर अन्य प्रांतीय साहित्यों से ऊपर उठाये हुए है। तुलसीदास, सूरदास, नन्ददास, मीरा, रसखान, हितहरिवंश, कबीर—इनमें से किसी पर भी संसार का कोई साहित्य गर्व कर सकता है। हमारे साहित्य में ये सब हैं। ये वैष्णव कवि हिन्दी-भारती के कंठमाल हैं।

६

गुञ्जन

१—कवि सुमित्रानन्दन पंत की रचनाओं में 'गुजंन' का स्थान। २—'गुजंन' के विषय—सुख-दुख, जीवन-मरण, प्रकृति के हास-विलास और मन के अतल स्रोत ३—'गुञ्जन' का दर्शन, ४—'गुंजन' में लोक-मंगल-भावना और प्रेम ५—'गुजंन' का कवि मुख्यतः सौन्दर्य, प्रेम और जीवन के उल्लास का कवि है।

'गुजंन' श्री सुमित्रा नन्दन पंत की एक अत्यन्त सुन्दर रचना रचना है। इससे पहले वह वीणा, ग्रंथि और पल्लव की के द्वारा हिन्दी संसार में प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे। कदाचित् एक विशेष दृष्टिकोण से 'पल्लव' हिन्दी काव्य की विशिष्ट रचना कही जायगी। परन्तु पल्लव में किशोर का स्वप्न था, किशोर का कंठ था। 'गुंजन' (१६३२) के कवि में तरुण के चिंतन और संयमित कला का विकास हुआ। कुछ वर्ष पहले कवि को कठिन रोग का सामना करना पड़ा। जीवन-मृत्यु के हिंडोल पर महीनों झूलने के बाद वह केवल कल्पना-विलास तक सीमित नहीं रह सकता था। जिस साहस से वह नये जीवन में प्रवेश कर रहा था, उसने उसमें आशावाद का संचार किया। 'भूमिका' में पंत ने 'गुजंन' को अपनी आत्मा का 'उन्मन गुजंन' कहा है। इसका कारण है संयम, इसका आवेश की न्यूनता एवं चिंतन और मनन की प्रधानता। सारी कविताऐं

गीतात्मक हैं। आत्मा की गूँज गीत में ही प्रकाशित हो सकती है।

'गुंजन' में सुख-दुख, जीवन-मरण, प्रकृति के हास-विलास और मन को अतल स्रोत के कवि ने अपना विषय बनाया है। वह दार्शनिक ढंग से सुख-दुख का समन्वय करना चाहता है—

जग पीड़ित रे अति दुख से,
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव-जग में बँट जाये
दुख सुख से, औ' सुख दुख से!

परन्तु सदैव तो यह सम्भव नहीं है। अतः वह अपने मन को सुख-दुख से ऊपर उठने का आग्रह करता है—

अस्थिर है जग का सुख-दुख
जीवन ही नित्य, चिरतंन
सुख-दुख से ऊपर मन का
जीवन ही रे आलम्बन

आगे बढ़कर वह कवि-साधना में लीन हो जाना चाहता है। न, सुख के क्षणों में भी साधना को भूलना नहीं होगा—

पुलकों से यह जाता तन,
मुँद जाते मद से लोचन,
तत्क्षण सचेत करता मन
ना, मुझे इष्ट है साधन

कभी यह विश्व के सुख-दुख से ऊपर कर, अपनी सौन्दर्य और कविता की साधना में लीन रह मानव के प्रति मंगलाकांक्षी हो उठता है। यह जगजीवन क्रमशः अधिक सुन्दर जीवन की ओर बढ़ रहा है—

सुंदर से अति सुन्दरतर,
सुन्दरतर से सुन्दरतम,
सुन्दर जीवन का क्रम रे
सुन्दर-सुन्दर जग-जीवन

इस मंगलाशा में सारा विश्व ही नवीन दिखलाई पड़ता है। प्रेम, सौन्दर्य, नारी, प्रकृति सब इस मंगल के प्रकाश में इन्द्र-धनुष के सात रंगों से रँग उठे हैं।

हिन्दी के काव्य में 'गुजंन' एक नितांत नई दिशा की सूचना देता है। जीवन की उज्जवलता, जीवन के शाश्वत विकास, जीवन के मंगल-गान से यह संग्रह भरा है। कवि कहता है—

रे जग जीवन के कर्णधार,
चिर जन्म-मरण के आर-पार
शाश्वत जीवन-नौका-विहार ?
मैं भूल गया अस्तित्व-ज्ञान
जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान

यह जीवन क्या है—

क्या यह जीवन ? सागर में
जल-भार मुखर भर देना–
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा–
क्रीड़ा से तनिक न लेना

कवि जीवन में उल्लास का अनुभव तो करता है, परन्तु उसको इस व्यापक उल्लास में भाग लेना नहीं है। वह साधना का

मंगल-पथ पकड़ना चाहता है। वह हिलोर (लहर) नहीं बनेगा। वह तो 'बुदबुद' बनेगा—

> कँप-कँप हिलोर रह जाती—
> रे मिलता नहीं किनारा !
> बुदबुद विलीन हो चुपके
> पा जाता आशय सारा।

इस प्रकार जीवन के प्रति एक नई जिज्ञासा, एक नई रहस्य-भावना, एक नई सौन्दर्य-दृष्टि 'गुंजन' ने जाग्रत की।

इस मंगलाशी आशावादी स्वर ने प्रेम और प्रकृति के सम्बन्ध में नया दृष्टिकोण ग्रहण किया। पंत के प्रकृति-काव्य का पूर्ण विलास यहाँ मिलेगा। 'पल्लव' ने उपमा-उत्प्रेक्षाओं के घने आवरण ने प्रकृति की सुषमा को छिपा लिया है। 'गुंजन' की कविताओं में प्रकृति का सारा वैभव नये आशावाद से जी उठा है। 'मधुवन', 'नौका-विहार' और 'सांध्यतारा' जैसी कविताएं किसी भी साहित्य को महत्व दे सकती हैं। 'मधुवन' में कवि प्रेयसी और प्रकृति को एक साथ देखता है—

> आज उन्मद मधुप्रात
> गगन के इन्दीवर से नील
> झर रही स्वर्ण-मरंद समान
> तुम्हारे शयन-शिथिल-सरसिज उन्मील
> छलकता ज्यों मदिरालस, प्राण

'भावी पत्नी के प्रति' कविता में रवीन्द्रनाथ की 'उर्वशी' की मादकता मिलेगी—

मृदूर्मिल सरसी में सुकुमार
अधोमुख अरुण-सरोज समान,
मुग्ध कवि के उर के छू तार;
प्रणय-का-सा नव गान;
तुम्हारे शैशव में, सोभार,
पा रहा होगा यौवन प्राण,
स्वप्न-सा, विस्मय-सा अम्लान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

प्रेम के तो अनेक सहज सुन्दर गीत हैं। कवि प्रेयसी की प्रतीक्षा कर रहा है—

कब से विलोकती तुभको
ऊषा आ वातायन से,
संध्या उदास फिर जाती
सूने नभ के आँगन से ।
लहरें अधीर सरसी की
तकती हैं तुमको उठकर,
फिर-फिर समीर रह जाता
प्रेयसि, ठंडी साँसें भर।
तुम आओगी, आशा में
अपलक हैं उर के लोचन,
आओगी, अभिलाषा में
पुलकित-पुलकित यौवन-मन !

या प्रेयसी की नीलिमा-जड़ित आँखों का चिंतन करता हुआ दिखलाई देता है—

तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल, आकाश !
गूढ़, नीरव, गंभीर, प्रसार,
बसाएगा कैसे संसार,
प्राण, इनमें अपना संसार !
न इनका ओर-छोर रे पार,
खो गया वह नव पथिक अजान !

कभी प्रियतमा को गृह-काज से विरत करता है—

आज रहने दो यह गृह-काज,
प्राण, रहने दो यह गृह-काज;
आज जाने कैसी बातास
छोड़ती सौरभ-श्लथ उच्छ्वास...

यह नहीं कि वेदना और अवसाद के स्वर गुंजन में नहीं हैं। 'चाँदनी', 'एकतारा' इत्यादि कविताओं में कवि के विषएण स्वर जाग उठे हैं, परन्तु वे कवि के चिन्तन से पुष्ट हैं। अत्यन्त निर्वैयक्तिकता से कवि अपने जीवन को असफल आकांक्षाओं की वेदना और अपने सूनेपन को व्यक्त करता है—

अविरत इच्छा ही में नर्तन
करते अबाध रवि, शशि, उडुगन
दुस्तर आकांक्षा का बंधन।
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल
क्या नीरव-नीरव नयन सजल,
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल।
एकाकीपन का अंधकार—
दुस्सह है इसका मूक भार—
इसके विषाद का रे न पार।

परन्तु इस तरह की कविताएँ अधिक नहीं हैं। कवि आशा और उल्लास के झूले में झूल रहा है। उसने रोग-शय्या पर दु:ख और मृत्यु का परिचय प्राप्त किया है, परन्तु दु:ख और मृत्यु के बीच में उसे जीवन के शाश्वत सौन्दर्य और चिर मंगल-मय विधान का परिचय हुआ है। बसन्त, सायंप्रात, गंगा, तारों-भरा आकाश, प्रकृति की सारी सुषमा, जैसे आशा और मंगल के ही गीत गा रहे हैं। 'पल्लव' की अन्तिम कविता 'परिवर्तन' में कवि के विषण्ण स्वर जाग उठे थे। उसने जीवन से अधिक मृत्यु को देखा था। परन्तु 'गुञ्जन' में जीवन के सौन्दर्य, सुख, उल्लास और माधुर्य से ही उसका सारा कवि-व्यक्तित्व ओतप्रोत हो गया है।

वह सहसा गा उठा है :

जीवन का उल्लास,—

यह सिहर-सिहर,
यह लहर-लहर,
यह फूल-फूल करता विलास!
रे फैल-फैल फेनिल हिलोल
उठती हिलोल पर लोल-लोल,
शत युग के शत बुद्-बुद् विलीन
बनते पल-पल शत-शत नवीन,
जीवन का जलनिधि डोल-डोल
कल-कल छल-छल करता किलोल।
डूबे दिशि-पल के ओर-छोर
महिमा अपार, सुखमा अछोर!
जग-जीवन का उल्लास,
यह सिहर-सिहर,
यह लहर-लहर,

यह फूल-फूल करता विलास !

जग-जीवन के इसी उल्लास ने कवि की अंतर्दृष्टि सम्मुख जीवन, सौन्दर्य और प्रेम के सहस्र रहस्य-वातायन खोल दिये हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य में जीवन की इतनी उन्मुक्त, इतनी सहज, इतनी सौन्दर्यनिष्ठ चित्रपटी अन्यत्र नहीं मिलेगी। 'गुंजन' चिरकाल तक हिन्दी भारती की अमूल्य निधि और हिंदी भाषी जनता का हृदय-गान बना रहेगा, इसमें किंचित भी संदेह नहीं है।

'गुञ्जन' में पहले कवि का दृष्टिकोण मुख्यतः निराशावादी या रहस्यवादी था। इस जीवन और जगत के अनेक परिवर्तनों के बीच में किसी व्यापक करुणामय की सत्ता में कवि को विश्वास है। यह विश्वास जहाँ उसे निराशा में बल देता है, वहाँ उसे जीवन के आनंद और उल्लास से अपने व्यक्तित्व का तादात्म्य नहीं करने देता। यह संसार उसे विचित्र और रहस्यमय जान पड़ता है, परन्तु यह विचित्रता उसे आतंकित भी कर देती है। 'पल्लव' की अंतिम कविता 'परिवर्तन' (१९२४) में अवसाद और करुणा के स्वर और भी मुखर हो उठे हैं। कवि कहता है—

बिना दुख के सब सुख निःसार

परन्तु 'गुंजन' का कवि जीवन के आनंद से भर गया है। जीवन की अपार संभावनाएं उसे आश्वस्त किये रहती हैं। उसमें मनुष्य के प्रति अगाध स्नेह, अगाध आदर-भाव का जन्म होता है। वह उसे परिस्थितियों के हाथ की कठपुतली-मात्र नहीं समझता। जीवन की अनंत

क्षमताओं का कोई अंत नहीं। कवि जीवन के एक चिन्मय, स्वस्थ और आनंद-मुख तत्त्व की कल्पना करता है और उसके प्रति प्रार्थी होता है :

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिमय जीवन!
बरसो लघु-लघु तृण-तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन!

जीवन की यही मंगलाशा 'गुंजन' के अनेक सुन्दर गीतों में बार-बार मुखरित हो उठी है।

———

७

प्रेमचंद की कला

१—प्रेमचंद जागरूक कलाकार हैं २—प्रेमचंद के कलागत दृष्टिकोण की कुछ दुर्बलताएं ३—प्रेमचंद की कला की पृष्ठभूमि और दोषों का निराकरण ४—प्रारंभिक रचनाओं में 'गोदान' तक कला-विकास का क्रम ५—प्रेमचंद की कला में कथोपकथन, वर्णन और पात्र-निरूपण का रूप ६—प्रेमचंद की कला का मूलाधार—'आदर्शोन्मुख यथार्थ' ७—उसका लोक-मंगलकारी और युगांतकरकारी रूप।

प्रेमचंद की कला पर विचार करने के लिए यह आवश्यक है कि हम उनकी रचनाओं पर सामूहिक रूप से विचार करें और साथ ही उनके रचनाकाल और प्रेमचंद की कला के विकास-क्रम पर ध्यान रखें। यह स्पष्ट है कि प्रेमचंद जैनेन्द्र या अज्ञेय की भाँति प्रयोगवादी नहीं हैं। उन्होंने भाषा-शैली, टेकनिक और कथा-संगठन के संबंध में अधिक प्रयोग नहीं किये हैं। एक जगह उन्होंने लिखा है कि उन्हें नई कला सीखना नहीं आता। अत: स्पष्टतय: उनकी प्रतिभा निर्मात्री थी, प्रयोगशील नहीं। परन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते कि उनकी कला का कोई रूप है ही नहीं या उसके क्रम-विकास का कोई ढांचा खड़ा नहीं किया जा सकता। प्रेमचंद जैसे जागरूक कथाकार से हम इस बात की आशा ही नहीं कर सकते।

परंतु उनकी कला के संबंध में विचार करने से पहले उसके

संबंध में कुछ प्रारंभिक बातें जानना आवश्यक है। उपन्यास के पश्चिमी शास्त्र के आधार पर हम उनकी रचनाओं की परीक्षा करें तो हमें पता लगता है कि उनके उपन्यासों में कला-संबंधी अनेक त्रुटियाँ हैं। कहीं टेकनिक कमजोर पड़ता है, कहीं अंत अतिशयोक्ति-पूर्ण और नाटकीय हो जाता है, चरित्रों के विकास के द्वारा स्वाभाविक रूप से उनका निर्माण नहीं होता। असम्भव परिस्थितियां, आश्चर्यजनक घटना-संगठन, उबा डालनेवाले लंबे वादविवाद—ये कुछ ऐसी बातें हैं जो प्रेमचंद की रचनाओं में बड़ी मात्रा में मिल जाती हैं और प्रेमचंद के साहित्य के पारखियों के सामने लांछा के रूप में उपस्थित की जाती हैं। इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचंद के उपन्यासों की विस्तृति कुछ अधिक है, उसका कला-रूप उतना संगठित नहीं है और कदाचित् उनके बड़े उपन्यास संक्षिप्त होकर अधिक कलात्मक बन जायँगे। परन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के कलाकार कला के उस रूप में विश्वास नहीं करते थे जो आज हमारा आदर्श बना हुआ है। डिकेन्स, थेकरे, गेल्सवर्दी, अनातोले फ्रांस, रोमां रोला, तोल्सताय और अन्य अनेक कलाकारों में वे सब दुर्गुण पर्याप्त मात्रा में मिल जाते हैं जिनको हम प्रेमचंद की लांछा के रूप में उपस्थित करते हैं। यही कलाकार प्रेमचंद के आदर्श थे। प्रेमचंद ने उपन्यास की कला इन्हीं से सीखी। उन्होंने शास्त्र के माध्यम से उसे ग्रहण नहीं किया। फलतः जहाँ उनकी शक्ति उन्नीसवीं शताब्दी के इन महान् कलाकारों की शक्ति है, वहाँ इनकी दुर्बलताएं भी उनमें पर्याप्त मात्रा में आ गई हैं। पश्चिमी उपन्यासकारों में कला का ऐसा रूप क्यों था, यह भी जान लेना आवश्यक है। पहली बात तो यह है कि उस समय साहित्य के प्रति वैसा वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित नहीं हो सका था जैसा आज है। दूसरी बात यह है कि उस समय

साहित्यकार का पहला ध्येय मनोरंजन था और सारी उन्नीसवीं शताब्दी में जासूसी, ऐयारी, तिलिस्म, राजकीय रहस्य, भय और वितृष्णा को लेकर चलनेवाले उपन्यासों की धूम मची रही और इनमें आश्चर्यजनक कथा-गुंफ और असंभाव्य घटनाओं की प्रधानता रहती। गंभीर कथाकारों को भी अपनी कला को जनापेक्षित बनाना पड़ता। जनता कथा-वैचित्र्य और असंभाव्य घटनाओं में विश्वास करती थी। फिर कथाकार उसे क्यों छोड़ देता? उसे जनरुचि को भी देखना था और निम्न कोटि के घटनापूर्ण और चमत्कार प्रधान उपन्यासों से होड़ लेनी थी। तीसरी बात यह है कि उस समय तक उपन्यास-लेखन प्रारंभिक सीढ़ियां ही पार कर रहा था और उसमें कला की वह परिपूर्णता नहीं आई थी जो बाद में आई। डिकेन्स की रचनायें प्रेमचंद को अधिक प्रिय जान पड़ती हैं और इन रचनाओं में अतिशयोक्ति-पूर्ण कला और असंभाव्य घटनाओं की प्रधानता है। आलोचक इस बात में एकमत हैं कि डिकेन्स अपने उपन्यासों का आरम्भ जिस कुशलता से करते हैं और जिस प्रकार कथा के सूत्र फैलाते हैं वह तो प्रशंसनीय है परन्तु वह अंत तक पहुँचते-पहुँचते अपने आदर्शवाद के कारण अस्वाभाविक बन जाते हैं और कथा के सूत्र कलापूर्ण ढंग से सिमट नहीं पाते। हार्डी लगभग प्रेमचंद के समसामयिक हैं। उनकी रचनाओं में भी यही विशेषताएँ पूर्ण रूप से मिलती हैं। अंत के उपन्यासों में हार्डी की कला अधिक प्रौढ़ हो गई है और उसमें विल्की कोलिन्स का प्रभाव भी समाप्त-प्राय है, परन्तु प्रारम्भिक उपन्यास शिथिल, विश्रृंखल, चमत्कारप्रधान और असंभाव्य घटनापूर्ण हैं। प्रेमचन्द की अन्तिम कृति 'गोदान' भी उनकी रचनाओं की समान्य त्रुटियों से युक्त है।

प्रेमचन्द ने अपने किशोर-जीवन में जिस कथा-साहित्य

को पढ़ा था उसके उनके कथा-साहित्य-सम्बन्धी दृष्टिकोण को अवश्य प्रभावित किया होगा। तिलिस्म होशरुबा और देवकीनन्दन खत्री एवं रेनाल्ड के उपन्यासों के परिचित पाठक जानते होंगे कि इन रचनाओं में वे सब चीज़ें प्रचुर मात्रा में उपस्थित हैं जिन्हें हम प्रेमचन्द की कला के लिए दूषण मानते है। इस बीथिका को जानकर यह आश्चर्य नहीं होता कि प्रेमचन्द अपने पूर्ववर्ती लेखकों की भद्दी और अनगढ़ प्रवृत्तियों से पूर्णतः बच नहीं सके। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि जैसे-जैसे वह प्रौढ़ता प्राप्त करते गये वैसे-वैसे वह इन निम्न कोटि की कला-प्रवृत्तियों से ऊपर उठते गये। 'कर्मभूमि' (१९३२) में वे एक संयत कलाकार के रूप में सामने आते हैं। इस उपन्यास का क्षेत्र 'रंगभूमि' (१९२४) से बहुत छोटा हैं। परंतु फिर भी कथा की रूपरेखा सुनिश्चित बनाये रखने के लिए प्रेमचन्द ने उपन्यास को कई भागों में विभाजित कर दिया है। यह स्पष्ट है कि यहाँ प्रेमचंद जागरूक कलाकार है। वह कथा-प्रवाह में बह नहीं रहे हैं। उन्होंने सज्ञान रूप से, अत्यंत सतर्कता से कथा की अनेक रूपरेखायें उभारी हैं। 'गोदान, (१९३६) में वह कला के क्षेत्रमें एक क़दम और आगे बढ़े हैं। जीवन ने उनका साथ नहीं दिया, दिया होता तो 'मंगलसूत्र' में हम उन्हें पूर्ण रूप से कलाकार पाते। 'गोदान' में ही वे कलात्मक सौष्ठव और रचनात्मक प्रौढ़ता के ऊँचे शिखर पर पहुँच गये हैं। अपनी अगली रचना में वह निःसन्देह एक महान कलाकार के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते। अभी उनकी सम्भावनाओं का अंत नहीं हुआ था। 'गोदान' में इन संभावनाओं की एक झलक पाकर आज भी हम प्रेमचंद के कलात्मक विकास के संबंध में पूर्णतयः आश्वस्त हैं।

कथा-संगठन, वर्णन और पात्रनिरूपण (चरित्र-चित्रण) उपन्यास के तीन महत्वपूर्ण अंग हैं। प्रेमचंद ने उपन्यास लिखकर उपन्यास लिखना सीखा था। पूर्व और पश्चिम के सभी प्रसिद्ध और महत्वपूर्ण कथाकारों की रचनाओं से वे परिचित थे। इन रचनाओं को पढ़ कर उन्होंने उपन्यास की टेकनिक और उनकी कला पर बहुत कुछ सोचा जान पड़ता है। उपन्यास और कहानी उनकी अभिव्यंजना के सबसे महत्वपूर्ण साधन थे और इनके संगठन के संबंध में प्रेमचंद अत्यंत सचेष्ट रहे। समाज-सुधार और राष्ट्रीय जागरण उनके विषय थे और उन्होंने बड़े उत्साह से इन विषयों पर क़लम चलाई और बहुधा कलापक्ष की अपेक्षा विचारपक्ष को प्रधानता दी। कला उनके लिए स्वयंसाध्य नहीं थी। वह प्रगतिशील विचारों और नई राष्ट्रीयता का संदेशवाहक थी। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि प्रेमचन्द मूलतः कलाकार थे। कहानी उन्हें इसलिए प्रिय थी कि वह कहानी थी। कथाकार से हम पहले तो यही आशा करते हैं कि वह सुन्दर और मनोरंजक कहानी दे। शेष बातें बाद में आती हैं। प्रेमचद ने पहली बात को पहली बात ही रखा। इसीलिए उनके उपन्यासों और उनकी लगभग सभी कहानियों में कथारस अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित है। प्रारम्भिक रचनाओं में वह कलाकार की दृष्टि से असफल रहे हों, तो आश्चर्य की बात नहीं, परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने प्रौढ़ता प्राप्त कर ली और उनकी अन्तिम रचनायें संसार की सर्वश्रेष्ठ रचनाओं के समकक्ष रखी जा सकती हैं।

एक तरह से देखें तो प्रेमचन्द की कला की सच्ची परख न यथार्थवाद के मापदंड पर हो सकेगी न आदर्शवाद के।

उनकी कला का मूलाधार ही आदर्श और यथार्थ का समन्वय है। उन्होंने अपने लिए एक बीच का मार्ग निकाल लिया था जिसे उन्होंने 'आदर्शोन्मुख यथार्थ' कहा है। प्रेमचन्द का विश्वास है कि साहित्य-समाज और नीति से अलग नहीं किया जा सकता। जीवन-संघर्ष का समाधान यदि कहीं पूर्णरूप से मिल सकता है तो साहित्य में। साहित्य का सम्बंध मनुष्य की भावनाओं से है और भावक्षेत्र में मनुष्य-मनुष्य में कोई भी अन्तर नहीं। प्रत्येक महान रचना समाज के अनेक वर्गों के बीच में समझौता कराती है, वह हमारी सहृदयता की वृद्धि करती है और हमारी सहानुभूति के क्षेत्र का विस्तार करती है। यह साहित्य कर मंगल-रूप है। प्रेमचन्द इससे पूर्णतयः परिचित थे। इसी से उनके साहित्य में यथार्थ और आदर्श का विरोध समाप्त हो गया है और मनुष्य की दुर्बलताओं और परिस्थितियों की विडंबनाओं का चित्रण करते हुए भी उन्होंने प्रेम, सेवा, श्रम, सत्य, बलिदान और आशा के गीत गाये हैं। मनुष्य मनुष्य है। केवल इसी एक बात से वह महान है। वह न छोटा है, न बड़ा। जहाँ वह परिस्थितियों से दब गया, वहाँ वह छोटा है, परन्तु परिस्थितियों पर विजय-पताका फहरा कर वह निःसन्देह बड़ा है। मानव की सम्भावनाओं और उसकी महानता में प्रेमचन्द का विश्वास अगाध है और यही विश्वास उनकी कला को लोकमंगलकारी और उनके साहित्य को युगान्तरकारी बना देता है।

८

हिन्दी कविता की राष्ट्रीय विचार-धारा

१—भूमिका २—प्राचीन हिन्दी काव्य में राष्ट्रीयता का रूप ३—हिन्दू जातीयता का काव्य और उसके कुछ प्रसिद्ध कवि ४—उन्नीसवीं शताब्दी में राष्ट्रीय भावना का जन्म और विकास ५—भारतेन्दु और उनकी मंडली ६—बीसवीं शताब्दी के राष्ट्रीय कवि ७—उपसंहार

राष्ट्रीय विचार-धारा से हमें देश को जिस प्रवृत्ति का बोध होता है उसका इतिहास आधुनिक युग से पीछे नहीं जाता। वस्तुतः हिन्दी कविता में राष्ट्रीय विचार-धारा का प्रवेश भारतेन्दु हरिश्चन्द (१८५०-८५) से हुआ और कांग्रेस के जन्म (१८८५) के बाद राष्ट्रीयता हमारे काव्य और साहित्य की प्रधान प्रेरणा बन गई। हिन्दी के प्राचीन काव्य पर राजनीति का प्रभाव बहुत कम है। जो है भी वह परोक्ष में। संपूर्ण भारतीय साहित्य को लें, तो भी उसमें राष्ट्रीय चेतना का लगभग अभाव मिलेगा। संस्कृत साहित्य में इस प्रकार का कोई काव्य नहीं जिसे शुद्ध अर्थों में राष्ट्रीय कहा जा सके। हिन्दू राष्ट्र की चेतना मेघदूत या रघुवंश में सन्निहित है परन्तु दूसरे प्रकार की। स्वयं संघर्षमय राजपूतकाल में भी पृथ्वीराज-विजय, राजतरंगिणी अथवा विद्यापति की एक दो अवहट्ठ (अपभ्रंश) रचनाओं को छोड़कर किसी महत्वपूर्ण राज-सबंधी रचना के उल्लेख नहीं मिलते। राजपूत-काल में

साहित्य की प्रधान भाषाएं संस्कृत और अपभ्रंश थीं। उनकी अपनी प्राचीन परंपराएँ थीं। परन्तु इन परंपराओं में राष्ट्रीय विचार-धारा की परंपरा के दर्शन नहीं होते।

६५७ ई० में हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद हिन्दू राष्ट्र छिन्न-भिन्न हो गया। ७११ ई० में मुहम्मद बिन क़ासिम ने सिन्ध प्रदेश को मुसलिम साम्राज्य में मिला लिया। ९ वीं शताब्दी के मध्य में भिन्न-भिन्न राजपूत राज्य स्थापित हुए। उस समय हिन्दी प्रदेश में शक्ति के प्रधान केन्द्र थे कन्नौज, कालिंजर, मालवा, दिल्ली और अजमेर। १० वीं शताब्दी में पंजाब में पाल राजाओं का राज्य था। शताब्दी का अंत होते-होते इनको ग़ज़नी के मुसलमान केन्द्र के सुबतगीन और महमूद से मुठभेड़ हो गई। १०२३ ई० में पंजाब मुसलिम राष्ट्र हो गया। अब दिल्ली और अजमेर के प्रांत सीमाप्रांत हो गये। ७३६ ई० में तोमर राजपूत अनंगपाल ने दिल्ली में राज्य स्थापित किया। ११५१ ई० में अजमेर के चौहान राजा विशाल देव (बीसलदेव) ने दिल्ली को जीता। अंतिम तोमर राज्य अनंगपाल ने अपनी कन्या विशालदेव के पुत्र सोमेश्वर को दी और प्रण किया कि इसके बाद सोमेश्वर का पुत्र ही दिल्ली का राजा होगा। यही पुत्र प्रसिद्ध राय पिथौरा (पृथ्वीराज) हुआ। ११९१ ई० में तराई की लड़ाई में दिल्ली और अजमेर का राज्य शहाबुद्दीन ग़ौरी के हाथ में आ गया। साहित्य की दृष्टि से कन्नौज का राज महत्वपूर्ण है। ८ वीं शताब्दी में यशोवर्मदेव के दरबार में भवभूति हुए। राज्यपाल के समय में महमूद गज़नवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया। इसकी दो पीढ़ियों बाद राष्ट्रकूट (राठौर) आये। उन्होंने ७ पीढ़ियों तक राज्य किया। अंतिम राठौर राजा जयचंद था।

११६६ ई० में गौरी ने कन्नौज पर भी आधिपत्य कर लिया। कन्नौज का राज्य काशी तक फैला हुआ था। अतः इस विजय से हिन्दी प्रांत का एक बड़ा भाग मुसलमानों के हाथ में आ गया।

६ वीं शताब्दी में कालिंजर में चंदेलों का राज्य था। कुतबुद्दीन ने इसको परास्त किया, परन्तु परमालदेव के पुत्र त्रैलोक्य शर्मा ने स्वतंत्रता का झंडा फहरा दिया। कालिंजर १५४५ ई० तक स्वतंत्र रहा। अंत में वह शेरशाह द्वारा परास्त हुआ। इस शताब्दी के मध्य में बंगाल में पाल राजा राज कर रहे थे। ये बौद्ध थे। इनके समय में नालिंदा और विक्रमशिला प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ थे। इन्हीं के समय में प्रसिद्ध सिद्ध कवियों ने हिन्दी में कविता की। १०६६ ई० में विक्रमशिला के प्रसिद्ध भिक्षु दीपंकर श्रीज्ञान महायान के प्रचार के लिए तिब्बत गये। १२ वीं शताब्दी में बंगाल के सेन वंश ने पालवंश का बहुत सा साम्राज्य हस्तगत कर लिया। ११६७ ई० में बख्तियार खिलजी ने पालवंश को समाप्त कर दिया। ११६६ ई० में खिलजी ने गौड़देश और नवद्वीप को परास्त कर सेन वंश का भी अंत कर दिया। इस प्रकार हम देखते हैं कि सारा हिंदी प्रदेश १२ वीं शताब्दी के अंत से पहले ही मुसलमानों-द्वारा पदाक्रांत हो गया था। इसके अनंतर (१२००-१६००) हिंदू सामूहिक विरोध का केन्द्र राजस्थान रहा है और सारे मुग़ल साम्राज्य के विस्तार एवं अंत में उसका हाथ है। प्रताप-सरीखे हिंदू राजाओं ने हिंदू-राष्ट्रीयता की दीपशिखा जलाये रखी परन्तु शुद्ध हिंदू राष्ट्रीय काव्य शिवाजी और गुरु गोविंदसिंह की प्रेरणा से बना। स्वयं गुरु गोविंदसिंह और भूषण की कविता इसका उदाहरण है। शेष वीर-काव्य

शब्दों की झंकार-मात्र है जो हमें अनुप्रास के माध्यम से सुनाई पड़ती है। उसमें वीरत्व का प्रदर्शन है, जातीयता का उद्वेग नहीं। परन्तु मराठों के उत्कर्ष ने हमें कोई राष्ट्रीय कवि नहीं दिया। देश की जनशक्ति सो रही थी।

इसी समय अंग्रेज आये और १७५७ ई० से १८५७ ई० तक के एक शताब्दी में मराठा-हैदरअली-सिख-संघर्ष के बाद वे राजनीति की बागडोर के स्वामी हो गये। एक बार फिर हिंदी की सरस्वती मौन है। हमें १८५७ के विद्रोह जैसी घटना के संबन्ध में कुछ भी नहीं मिलता—कवि ह्रासोन्मुखी काव्य-धाराओं को लिये बैठे हैं। उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है, न शिक्षा-दीक्षा।

स्पष्ट है कि हिंदी प्रदेश में मुसलमानों को विजेता बनने में दस वर्ष से अधिक नहीं लगे। ११९१ ई० से ११९८ ई० तक का अर्थ है तराइ (पानीपत) से नवद्वीप। अधिकांश इतिहास-कारों ने इस विजय को बवंडर कहा है। जिस विद्युत्गति से आक्रमणकारियों को सफलता मिली वह अद्वितीय थी। इस थोड़े से समय में, इस परिस्थिति में, इस संघर्ष को काव्य में किस प्रकार ढाला जा सकता था? अतः चन्द के कथित 'रासो' के अतिरिक्त मुसलिम आक्रमण का एक भी साक्षी हमारे पास नहीं है। यहाँ-वहाँ तत्कालीन परिस्थिति के जो अनेक छोटे-बड़े चित्र (जैसे विद्यापति के अवहट्ठ काव्य में) हमें मिलते हैं, वे अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। बाद का काव्य तो एक तरह से प्रशस्ति काव्य है या वीरकाव्य का परम्परा-पालन है। मध्ययुग में चारणकाव्य प्रचुर मात्रा में बनता रहा। इस समय जहाँ एक ओर राजस्थान में चारण कवि होते रहे, वहाँ दूसरी ओर

कुछ अन्य राजाश्रित कवियों ने भी अपने राजाओं की वीरता के गान को अपनी कविता का विषय बनाया। इनमें से कुछ कवियों ने अन्य काव्यधाराओं को पुष्ट करते हुए भी वीरकाव्य की रचना उपस्थित की। वीरकाव्य चारणों के हाथ से निकल कर रससिद्ध कवियों के हाथ में पहुँच गया। लोग मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित थे। अतः हिंदू जातीयता का अत्यन्त स्पष्ट रूप इस युग के वीरकाव्य में प्रकाशित हुआ। छत्रसाल, शिवा जी, राजसिंह—इन प्रसिद्ध हिंदू राजाओं ने एक बार संगठित शक्ति से मुसलमानों से मोर्चा लेना चाहा। इनकी विजयों ने हिंदू कवियों की कल्पना को उत्तेजना दी और यद्यपि वे अपने चरित्रनायकों को राष्ट्रीय नेताओं का रूप नहीं दे सके, इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने उन्हें हिन्दूधर्म (गौ-ब्राह्मण-शिखासूत्र) के रक्षक के रूप में ही देखा। हो सकता है, इनमें से बहुत से कवि आश्रयदाताओं की प्रशंसा इसी तरह करते हों जिस तरह चारण करते थे। इसकी पुष्टि इससे भी होती है कि भूषण जैसा हिन्दुत्व का उपासक कवि कई प्रसिद्ध राजाओं की प्रशंसा करता है। परन्तु वास्तविकता से मुंह नहीं मोड़ लेना चाहिये। इस युग के वीर रस के प्रधान कवियों ने चारण और हिंदू जातीयता के कवियों दोनों का काम किया। उस समय जो पौराणिक काव्यों के अनुवाद हुए (जैसे रामायण, महाभारत आदि) अथवा चंडी-चरित्र जैसे काव्यों में चंडी की महिमा गाई गई, उनके मूल में हिंदू जातीयता के पुनरुत्थान की भावना है। इतिहास के अध्ययन से भी इसी मत की पुष्टि होती है। इसी दृष्टिकोण के कारण तुलसीदास की कवितावली और रामचरितमानस के लंकाकांड और सबलसिंह चौहान की महाभारत में दोहा-चौपाइयों में वीररस की प्रतिष्ठा हुई है। कवितावली की वीररस पूर्ण कविताएँ वीररसपूर्ण काव्य का श्रेष्ठ उदाहरण

हैं। गुरु गोविन्दसिंह का बहुत सा काव्य वीरकाव्य के अंतर्गत आता है। उनके चन्डीस्तोत्र के पीछे हिन्दू संगठन और हिन्दू जातीयता के स्वर स्पष्ट रूप से बजते दिखलाई पड़ते हैं। मध्ययुग के हिन्दू जातीयता के प्रमुख कवियों में अधिक प्रसिद्ध हैं केशवदास, जोधराज, मान, गोरेलाल, पद्माकर और सूदन। हम्मीर और राजसिंह जैसे महावीरों का कीर्तिगान उन्होंने किया है, परन्तु ये महापुरुष केवल अपने वीर कृत्यों के लिए ही पूज्य नहीं हैं। मध्ययुग के कवियों के लिए यही हिन्दू जातीयता के प्रतीक हैं। इन्होंने ही इस्लाम की तलवार की धार को कुंठित किया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक हिन्दू जातीयता के स्वर ही काव्य में प्रबल रहे। राष्ट्र की भावना का जन्म अभी नहीं हो पाया था। १८५० ई० से १६०५ ई० तक राष्ट्रभावना का विकास होता रहा। इसके बाद के ४०-४५ वर्ष हमारे राष्ट्रभावना के विकास में अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इन वर्षों में हमने महात्मा गाँधी के नेतृत्व में स्वराज्य की लड़ाई लड़ी। सारे देश ने एक स्पंदन का अनुभव किया और देश के निकट-दूर के भाग एक ही भावना का आलोड़न-विलोड़न अनुभव करने लगे। इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारे राष्ट्रीय काव्य का इतिहास "०० वर्षों से पीछे नहीं जाता। पिछले काव्य में राष्ट्रीयता की भावना की अपेक्षा जातीयता की भावना ही अधिक है। अँग्रेजी शासन ने अपनी सुबिधा के लिए कन्याकुमारी से काश्मीर तक और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक फैले हुए इस वृहद् देश को एक महान सूत्र में ग्रथित कर दिया। वह कोई सांस्कृतिक सूत्र नहीं था, परन्तु धर्म, दर्शन और भाषा के सांस्कृतिक सूत्रों से यह देश अनेक प्रकार से पहले ही जुड़ा हुआ

था। राष्ट्रीयता का विकास देश की राजनैतिक जागृति और आर्थिक सहयोग की उपज है। १६वीं शताब्दी के कवियों ने ब्रिटिश शासन की प्रशंसा की हैं परन्तु इससे वे राज्यद्रोही नहीं हो जाते। वे जिन बातों के लिए नई शक्ति के प्रशंसक थे उनमें सब से महत्वपूर्ण बात राष्ट्रीयता ही थी। आज हमें यह सुनकर आश्चर्य भले ही हो, परन्तु यह सच्चा तथ्य है और इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि राष्ट्रभाव का जन्म ब्रिटिश के एकच्छत्र शासन में ही संभव हो सका। कवि इस परिस्थिति से परिचित थे। इसी से उन्होंने 'जीवहु चिर विक्टोरिया रानी' की पुकार उठाई। परन्तु साथ ही वे भारत की आर्त दशा का चित्र उपस्थित करना नहीं भूले। प्रेमघन ने कहा—

> यदपि तिहारे राज भयो भारत अति उन्नत।
> आगे से अब सबै लोग सब विधि सुख पावत॥
> पै दुख अति भारी इक यह जो बहुत दीनता।
> भारत में सम्पति की दिन दिन होत हीनता॥
> सुख सुकाल हूँ जिनहिं अकालहिं के सम भासत।
> कहीं कोटिइन सबे मरत भोजन करि साँसत॥

भारतेन्दु के काव्य में युग की यह ललकार बराबर सुनाई पड़ती है। उन्होंने अंग्रेज राज्य के छल से लोगों को परिचित कराया। उनकी 'नये जमाने की मुकरी' में हमें भारतीय असंतोष के बीज पहली बार मिलते हैं। वह अँग्रेज़ी राज्य पर व्यंग करते हुए कहते हैं—

> भीतर भीतर सब रस चूसै
> हँसि हँसि कै तन-मन-धन मूसै

जाहिर बातिन में अति तेज
क्यों सखि साजन नहिं अँगरेज

अभी कांग्रेस का जन्म भी नहीं हुआ। इस मरुभूमि में भारतेन्दु की राष्ट्रीय कविता और भी महत्व प्राप्त कर लेती है। 'कपूर मंजरी' के भरतवाक्य में उनकी हिन्दू राष्ट्र की झाँकी इस प्रकार दिखलाई पड़ती है—

उन्नत चित है आर्य परस्पर प्रीति बढावैं
कपट नेह तजि सहज सत्य व्योहार चलावैं
जवन संसरग जात दोष गुन इन सो छूटैं
सबै सुपथ पथ चलै नितहिं सुख सम्पत लूटैं

तजि विविध देश रति कर्ममति एक भक्ति पथ सब गहैं
हिय योग बली सम गुप्त हरि प्रेमघर नित ही बहैं

१८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना के बाद राष्ट्र की जय-ध्वजा और भी द्रुत गति मे फहराने लगी। इस नई भावना का स्वागत करते हुए प्रेमघन ने कहा—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का
समय अन्त अतिशय प्रमुदित हो तनिक जब उसने ताका
उन्नतिपथ अति स्वच्छ दूर तक पड़ने लगा दिखाई
खग बन्देमातरम् मधुर ध्वनि पड़ने लगी सुनाई

बालमुकुन्द गुप्त ने देश के सामने कर्ममार्ग की नई व्यवस्था रखी—

आओ एक प्रतिज्ञा करें
एक साथ सब जीवें मरें

अपना बोया आपहिं खायें
अपना कपड़ा आप बनायें
माल विदेशी दूर भगावें
अपना चरखा आप चलावें

१६१६ के असहयोग आन्दोलन के बाद तो देश में राष्ट्रयीता की बाढ़ आगई। न जाने कितने राष्ट्र-कवियों ने देश की बलि-भावना से प्रताड़ित हो अपना सब कुछ राष्ट्राग्नि में होम दिया। माखनलाल चतुर्वेदी (भारतीय आत्मा), त्रिशूल (सनेही), सुभद्राकुमारी चौहान, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा नवीन, दिनकर और न जाने कितने राष्ट्रीय कवि हमारे सामने आये। इन कवियों ने देशबधु बापू के सन्देश को हिन्दी प्रदेश के कोने-कोने में पहुँचा दिया। अब तक वीरत्व की भावना का सम्बन्ध हिंसा से था। अब अहिंसा में वीरता की स्थापना हुई और आत्मप्रताड़न और कष्ट-सहन के गीत गाये जाने लगे। सुभद्राकुमारी चौहान की 'झाँसी की रानी', मैथिली बाबू की 'भारत भारती', 'भारतीय आत्मा' की अनेक कविताओं और अन्य गौण कवियों के राष्ट्रीय गीतों ने आज हमारे साहित्य में स्थायी स्थान प्राप्त कर लिया है।

यह स्पष्ट ह कि आज के युग में वीरता और राष्ट्रीयता को भावना में इतना परिवर्तन हो गया है कि पिछला सारा वीर काव्य आज हमारे प्राणों में कोई नई स्फूर्ति उत्पन्न नहीं करता। आज का कवि अनुप्रासों की दादुरवृत्ति से आकर्षित नहीं होता। तन की वीरता ने

मन की वीरता का स्थान ले लिया है। आज का कवि कहता है—

जागो फिर एक बार!
सिंहिनी की गोद से
छीनता रे शिशु कौन?
मौन भी क्या रहती वह
रहते प्राण? रे अजान!
एक मेष माता ही
रहती है निर्निमेष—
दुर्बल वह —
छिनती सन्तान जब,
जन्म पर अपने अभिशप्त
तप्त आंसू बहाती है,
किंतु क्या ?
—योग्य जन जीता है,
पश्चिम की उक्ति नहीं—
गीता है, गीता है—
स्मरण करो बार-बार—
जागो फिर एक बार!

यहाँ जो सम्बोधन है, वह प्राणों को है बाहुओ को नहीं। उसमें नाटकीयता नहीं, वीर दर्प नहीं, अनर्गल प्रलाप नहीं। है केवल आत्मोत्सर्ग, केवल दृढ़ वीरनिष्ठा, केवल बलिदान-भाव। संसार के राष्ट्रीय काव्य में इस प्रकार की भावना से ओत-प्रोत कविताओं को विशेष स्थान प्राप्त है। भारत की स्वाधीनता की लड़ाई संसार के सभी देशों के स्वातन्त्र्य

इतिहास से भिन्न रही है। उसमें भारत की सांस्कृतिक निष्ठा और उसकी अजय आत्मा अक्षुण्ण है। जो काव्य इन महत्वपूर्ण झंकारों को जन-जन की वस्तु बनाता है, वह आज स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भी हमारा गौरव है।

६

द्विवेदी जी की गद्य-शैली

१—भूमिका। २—१६ वीं शताब्दी की गद्य-शैली और उसमें सुधार की आवश्यकता। ३—'सरस्वती' (६०३-२०) के माध्यम से द्विवेदी जी का शैली-निर्माण-कार्य। ४—द्विवेदी जी द्वारा आविष्कृत विविध शैलियाँ और उनके सम्बन्ध में आलोचकों के मत। ५—द्विवेदी जी की निबंधकला और उनके निबंधों का वर्गीकरण। ६—खड़ी बोली की प्रतिनिधि शैलियाँ द्विवेदी जी की ही देन हैं या इनकी शैलियों से प्रभावित हैं।

खड़ी बोली गद्य के विकास के इतिहास में भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद के बाद सबसे बड़ा नाम पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का है। उन्होंने भाषा का संस्कार किया और अनेक प्रकार की शैलियों का निर्माण किया। उनकी भाषा-शैली ने शीघ्र ही सामान्य हिन्दी भाषा-शैली का रूप ग्रहण कर लिया और बीसवीं शताब्दी के पहले २० वर्षों में निबंधों, विचारों और अनुभूतियों की सर्वश्रेष्ठ भाषा-शैली वही रही।

१९०३ ई० में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन अपने हाथ में लिया। उनसे पहले बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग शैलियाँ लेकर चल रहे थे परन्तु जहाँ भट्ट जी की शैली नीरस और गम्भीर थी, वहाँ मिश्र जी की शैली अत्यन्त चुलबुली थी। उसमें व्यर्थ के लिए बात का बतंगड़ खड़ा किया जाता था और

ग्रामीण एवं प्रांतीय शब्दों की भरमार रहती थी। बालमुकुन्द गुप्त की शैली पर उर्दू-शैली की छाप थी। किसी ऐसी शैली का आविष्कार करना था जो जनता की भावनाओं को प्रगटकर सके और सरल एवं रोचक भी हो। द्विवेदी जी का सम्बंध एक मासिक पत्र से था और उन्हें टिप्पणियों के रूप में पाठकों के लिए मनोरञ्जक सामग्री देनी पड़ती थी। टिप्पणियों और लेखों में उन्होंने एक विशेष प्रकार की शैली का निर्माण किया जिसमें कहानी कहने का रस आ जाता था और जिसके आकर्षण के कारण पाठक बरबस उसकी ओर खिंचता था। पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उनके लेखों को 'बातों का संग्रह' कहा है। 'सरस्वती' की अनेक टिप्पणियाँ पढ़ते समय आज भी लगता है कि द्विवेदी जी सामने बैठे हुए किसी कठिन विषय को अपनी बातचीत की मनोरञ्जक शैली में समझा रहे हैं। इस शैली में न वे संस्कृत शब्दों का बहिष्कार करते हैं, न अरबी-फ़ारसी का। भाषा की सजीवता और स्वाभाविकता की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है।

जहाँ तक सम्भव होता, गम्भीर निबंधों में भी द्विवेदी जी परिचित और घरेलू वातावरण लाने का प्रयत्न करते। जो कहना होता, उसे बड़ी सतर्कता से, कई बार घुमा-फिरा कर सामने रखते। उन्हें कुछ अधिक तो अवश्य कहना पड़ता, परन्तु वे यह निश्चित होते कि पाठक उनकी बातें अवश्य सुनेगा, और वे जो कह रहे हैं, वह समझ जायगा। मेघदूत के मंदाक्रान्ता छंदों और किरातार्जुनीय जैसे दुर्बोध काव्य को भी वह अत्यन्त आकर्षक अनुवाद के रूप में उपस्थित कर सके हैं। परन्तु बात को पाठक के मन में उतारने के इस प्रयत्न में शैली का वह पांडित्यपूर्ण सुष्ठ रूप चला जाता था जो पं०

रामचन्द्र शुक्ल के निबंधों में मिलेगा। न वहाँ गूढ़-गुंफित पदावली है, न एक-एक पंक्ति में विचार भर देने की चेष्टा। एक ही विचार को लेखक अनेक रूप से, अनेक प्रसंगों से पुष्ट कर पाठक के सामने रखता है। एक ही बात कुछ हेर-फेर के साथ अनेक वाक्यों में उपस्थितहोती है तो पाठक को यह जान पड़ता है कि लेखक के पास कहने के लिए अधिक नहीं है। परन्तु द्विवेदी जी पहले हिन्दी साहित्यिक हैं जिन्होंने लिखते समय पाठकों को महत्व दिया और उनका ध्यान रखा। उनका साहित्य भी प्रचार-मूलक है। इसी से उनकी गद्य-शैली में छोटे-छोटे तुले हुए वाक्यों का प्रयोग हुआ है और समझाने-बुझाने की व्यास-शैली से काम लिया गया है। जहाँ तक विचारों को जनता तक पहुँचाने का सम्बंध है, गम्भीर निबन्धों में भी यह शैली सफल है।

'प्रतिभा' और 'कवि और कविता' जैसे कुछ साहित्यिक निबंधों में द्विवेदी जी अपेक्षाकृत अधिक गम्भीर हो गए हैं। इन निबन्धों में वही पांडित्यपूर्ण शैली मिलती है जिसका विशेष विकास पं० रामचन्द्र शुक्ल के निबन्धों में हुआ है। परन्तु अधिकतः उनकी प्रवृत्ति साहित्यिक विषयों की व्याख्या की ओर नहीं थी। वे अपनी बात को आवेश और ओजपूर्ण वक्तृत्व के ढंग पर कह जाते। परन्तु कहीं-कहीं बीच में दो-चार वाक्य भावपूर्ण रख देते। प्रांत की शिक्षा की दुर्दशा के सम्बन्ध में लिखते हुए वे अत्यन्त भावात्मक होकर कहने लगते हैं—"हाय भारत, तेरी भूमि ही ऐसी है (हो गई है?) कि उस पर क़दम रखते ही लोग तेरी भाषा का अनादर करने लगे। इत्यादि।" कहीं-कहीं वह सच्चे भावावेश आकर तीखे भी बन जाते हैं—"कूपमंडूक भारत, तुम कब तक अंधकार में पड़े रोते रहोगे?

प्रकाश में आने के लिए तुम्हारे हृदय में क्या कभी सदिच्छा ही नहीं जाग्रत होती ?" द्विवेदी जी को अनेक साहित्यिक आन्दोलनों का नेतृत्व करना पड़ा और अनेक विरोधियों से मोर्चा भी लेना पड़ा। इससे उन्होंने हास्य और व्यंग मिश्रित, मार्मिक, कटाक्षपूर्ण चोट करने वाली शैली भी विकसित की। विपक्षी उसे पढ़ता तो इतना परास्त हो जाता कि उत्तर ही नहीं सूझता। इस शैली ने उस समय के साहित्य-जगत में काफ़ी कटुता भी उत्पन्न की, परन्तु साहित्य में उच्छृंखलता के दमन के लिए द्विवेदी जी का यह रौद्र रूप भी आज सुन्दर जान पड़ता है।

जो हो, इसमें संदेह नहीं कि महावीरप्रसाद द्विवेदी की गद्य-शैली में हमें पहली बार कलापूर्ण गद्य के दर्शन होते हैं। आचार्य द्विवेदी जी की सफलता का रहस्य उनकी गद्य-शैली ही है। कहीं तर्कपूर्ण, कहीं भावपूर्ण, कहीं तथ्य-प्रधान, परन्तु सदैव आकर्षक, नितान्त सरल यह गद्य-शैली द्विवेदी जी की सब से बड़ी देन है। कुशल कहानीकार की सारी कला और चतुरता उनकी शैली में है। उपदेश, आलोचना, व्यंग, हास-परिहास, सब से पीछे सामान्य रूप से एक रोचक, सहृदय, निष्कपट व्यक्तित्व छिपा हुआ है, जो बात कहने की कला जानता है और जिसके तर्क और व्यंग की तीव्रता विरोधी सह नहीं सकता। विषय के अनुसार तत्सम शब्दों का न्यूनाधिक प्रयोग रहता है। उर्दू मुहावरों, कहावतों, चुटीली उक्तियों से सजी रहने पर भी द्विवेदी जी की शैली मुख्यतः सरल, घरेलू और सीधी है। उसमें वर्णन-शैली का अद्भुत प्रवाह है। हृदय को मुग्ध करने की आकर्षक कला है। वह आधुनिक हिन्दी गद्य की पहली कलात्मक शैली है।

संक्षेप में, हिन्दी की जातीय शैली के निर्माण में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का महत्वपूर्ण योग रहा है। वैसे शैली का जन्म १६ वीं शताब्दी में ही हो गया था और बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र और बालमुकुन्द गुप्त उन्नीसवीं शताब्दी के उत्कृष्ट शैलीकारों के रूप में स्मरण किये जायेंगे परन्तु इन सभी कलाकारों में व्यक्तित्व की प्रधानता थी और किसी सामान्य भाषा-शैली के गढ़ने में वे सफल नहीं हो सके थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दस वर्ष और बीसवीं शताब्दी के पहले ५-७ वर्ष भाषा-शैली के क्षेत्र में उच्छृंखलता के वर्ष हैं। इसका कारण यह है कि इन वर्षों में बंगला, मराठी संस्कृत और अंग्रेजी से हजारों ग्रंथ अनूदित हुए और इन अनुवादों के द्वारा विभाषीय सहस्रों शब्द प्रयोग और मुहावरे हिन्दी में भी प्रचलित हो गये। इसका फल यह हुआ कि विभिन्न प्रदेशों के लेखकों की भाषा-शैली में आकाश-पाताल का अंतर आ गया। जिसे पहले हरिश्चन्दी हिन्दी कहा जाता था उसका तो कोई नाम-लेवा भी नहीं था। पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने इस परिस्थिति को समझा और 'सरस्वती' के माध्यम से उन्होंने भाषा-संस्कार और जातीय भाषा-शैली के निर्माण के काम को आगे बढ़ाया। उन्होंने इस काम को उसी जगह से आरम्भ किया जिस जगह से भारतेन्दु उसे छोड़ गये थे। वे अंग्रेजी और मराठी शैलियों से अत्यन्त निकट से परिचित थे। इसी से उनकी गद्य-शैली में अंग्रेजी गद्य-शैली की व्यावहारिकता और मराठी शैली की सूक्ष्मता आ गई, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि प्रेमचन्द की जातीय हिन्दी शैली में महावीरप्रसाद द्विवेदी की भाषा-शैली केअनेक तत्त्व हैं। वास्तव में पहली कलात्मक हिन्दी गद्य-शैली उन्हीं की है। उनके बाद, पिछले २०-२५ वर्षों

में भाषा-शैली के क्षेत्र में सैकड़ों प्रयोग हुए हैं और अनेक क्षेत्रों में आज जिस शैली का प्रयोग हो रहा है वह 'सरस्वती' और पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी की ही देन है। इसमें सन्देह नहीं।

भागवत और रामचरितमानस

१—मध्य युग के वैष्णव-धर्म-सम्बन्धी आंदोलनों में श्रीमद्भागवत का महत्व २—रामचरितमानस पर भागवत का अपरोक्ष प्रभाव ३—कुछ उदाहरण ४—अन्य साम्य ५—दार्शनिक और आध्यात्मिक विचारों की तुलना ६—भागवत के श्रीकृष्ण और मानस के रामचन्द्र ७—निष्कर्ष

मध्ययुग के वैष्णव धर्म के आन्दोलनों में श्रीमद्भागवत का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। वैष्णव आचार्यों ने भागवत पर टीकाएं लिखी हैं और वल्लभाचार्य ने उसे ब्रह्मसूत्र, गीता और उपनिषदों के साथ चतुष्टयी के रूप में स्थान दिया है। यह स्पष्ट है कि मध्ययुग में श्रीमद्भागवत की मान्यता इतनी अधिक थी कि कोई भी आचार्य उसे छोड़कर अपने मत का प्रतिपादन नहीं कर सकता था। इसी लिए प्रत्येक आचार्य ने भागवत की टीका करते हुए उसके दार्शनिक सिद्धांतों को अपने ही ढंग पर लोगों को समझाने की चेष्टा की। शंकराचार्य ने अद्वैत, रामानुज ने विशिष्टाद्वैत मध्य ने द्वैत निंबार्क ने द्वैताद्वैत की प्रतिष्ठा के लिए अपनी टीकाओं में क्रमश अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, द्वैती और द्वैताद्वैती अर्थ किये। जहाँ तक भागवत की कथाओं और अन्तःकथाओं का सम्बन्ध था, वहाँ तक इन टीकाओं में कोई मतभेद न था। भेद केवल दार्शनिक और आध्यात्मिक प्रसंगों और

सैद्धांतिक उक्तियों के संबन्ध में था। मध्ययुग के समस्त कृष्ण भक्ति-संप्रदायों में भागवत के पठन-पाठन और कथा का प्रबन्ध था। बल्लभकुल में भागवत की कितनी मान्यता थी यह इसी बात से प्रगट है कि इस सम्प्रादाय के सबसे बड़े कवि सूरदास को अपनी मौलिक रचना को भागवत के ढाँचे पर उपस्थित करना पड़ा।

भागवत की इसी मान्यता के कारण रामभक्त तुलसी को भी उसका सहारा लेना पड़ा है। यही नहीं, सूक्ष्म अध्ययन से यह पता चलता है कि तुलसी रामचरितमानस की रचना के समय श्रीमद्भागवत बराबर तुलसी के सामने रही है। तुलसी ने यह चेष्टा की है कि वह भागवत के कृष्ण के समान ही राम की स्थापना करें। वह ऐसा करने में सफल भी हुए हैं। यह प्रसिद्ध है कि तुलसी काशी के बल्लभ सम्प्रदाय के मन्दिर में भी कुछ दिनों रहे थे और कदाचित् वहाँ रहते हुए ही उन्होंने कृष्ण-गीतावली की रचना की। इन सब बातों में स्पष्ट है कि तुलसी के लिए भागवत एक महत्वपूर्ण आधार ग्रंथ रहा है यद्यपि उसका प्रभाव अपरोक्ष रूप में ही ढूँढा जा सकता है। कुछ उदाहरण इस प्रकार होंगे—

(१) भागवत में ग्रंथ के आरम्भ में कल्पतरु का रूपक है। तुलसीदास नें अनेक स्थानों पर राम-कथा को कल्पतरु कहा है। उन्होंने भी मानस के आरम्भ में रामचरित मानस के रूप में एक सुन्दर रूपक की प्रतिष्ठा की है।

(२) भागवत की तरह रामचरितमानस भी सम्वाद-ग्रन्थ है।

(३) भागवत महाकाव्य नहीं है और रामचरित मानस भी महाकाव्य नहीं है। काव्याचार्यों ने महाकाव्य की एक विशिष्ट व्याख्या की है। उसके अनुसार

महाकाव्य की कथा को सर्गों में बँटा होना चाहिए। महाकाव्यों और पुराणों में सबसे महत्वपूर्ण अन्तर यही है कि पुराणों में कथा सम्वाद-रूप में अविभाजित चलती रहती हैं और प्रसंगोत्तर कथाओं और अन्तर्कथाओं को भी स्थान मिलता है जिनका महाकाव्य में कोई स्थान नहीं।

रामचरितमानस में कथा का एक अखंड स्रोत बहता है और यद्यपि वह कांडों में विभाजित है, तथापि यह विभाजन बहुत दूर तक कृत्रिम है और संस्कृत रामायणों की परंपरा की रक्षा के लिए ही किया जान पड़ता है। तुलसी के मानस में भागवत की भाँति अन्तर्कथाएँ नहीं हैं, परन्तु अनेक अन्तर्कथाओं का निर्देश अवश्य है जिससे स्पष्ट है कि तुलसी ने कथा-सौष्ठव की रक्षा के लिए उन्हें अपने काव्य में स्थान नहीं दिया है यद्यपि उन्होंने अपनी कथा को पुराणों के ढंग पर ही सोचा है।

पुराणों में वर्षा और शरद को ही स्थान मिला है। अन्य ऋतुओं के दर्शन नहीं होते। यह एक ऐसी परंपरा है जिसका कारण अज्ञात है। महाकाव्यों में समस्त ऋतुओं, दिवस, रात्रि, संध्या, चंद्रोदय, सूर्योदय, बन, पर्वत, नदी, सागर आदि के सविस्तार वर्णन अपेक्षित है, परन्तु पुराणों में प्रकृतिवर्णन का यह विस्तार नहीं मिलता। रामचरितमानस में महाकाव्यों की प्रकृति-विषयक इन मान्यताओं का अनुसरण नहीं किया गया है। जहाँ प्रकृति के वर्णन हैं भी, वहाँ वे सविस्तार नहीं हैं और उन पर नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का आरोप किया गया है। वास्तव में प्रकृतिदर्शन के नाम पर मानस में यदि कुछ है तो पुराण-परिपाटी का

वर्षा और शरद् वर्णन हो है। (४) वाल्मीकि रामायण में रावण के जन्म, तपस्या, वरदान-प्राप्ति और ऋषि-मुनियों पर उसके अत्याचार की कथा लंकाकांड में रावण-बध के बाद ही है। रामचरितमानस में यह सारी कथा रामजन्म की को भूमिका के रूप में उपस्थित की गई है। इससे कथा-विकास में कलात्मकता का प्रवेश हो जाता है। पाठक जानना चाहता है कि राम-रावण-युद्ध का क्या कारण है और उसकी जिज्ञासा रावण-बध तक अटकाए रखना कला की दृष्टि से एक दोष है। संभव है तुलसीदास को भागवत की कंस-बध की कथा से रामकथा को इस रूप में उपस्थित करने का सूत्र मिला हो।

(५) भागवत में कृष्ण-कथा की समाप्ति पर एकादश स्कध के अन्तर्गत आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों पर गीताओं के रूप में संवाद उपस्थित किए हैं। रामचरितमानस के उत्तरकांड में रामकथा केवल कुछ पृष्ठों में समाप्त हो जाती है और शेष पृष्ठों में भागवत के एकादश स्कंध की भाँति ही आध्यात्मिक विवेचन चलता है। भागवत में कृष्ण ने उद्धव से गीता कही, रामचरितमानस के उत्तरकांड में इस प्रकार की भी एक गीता है जो राम ने पुरवसियों के प्रति कहीं है। रामचरितमानस में काग-भुसुन्डि और गरुड-संवाद का वही स्थान है जो भागवत में एकादश स्कंध का है। (६) भागवत के अन्त में भागवत के विषयों की सूचनिका उपस्थित की गई है। लगभग सभी पुराणों के अन्त में इसी प्रकार की विशेष सूची मिलती है। रामचरित के उत्तरकांड में भी कागभुसुन्डि के मुख से इसी प्रकार की सूची कहलाई गई है। (७) भागवत की तरह तुलसी की रामकथा भी माहात्म्य के साथ समाप्त होती है।

ऊपर हमने यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि श्री मद्-भागवत और रामचरितमानस का संगठन एक ही प्रकार का है और तुलसीदास इस विषय में अवश्य ही श्रीमद्भागवत के ऋणी हैं परन्तु अनेक प्रसंगों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि तुलसीदास की दृष्टि भागवत के दशम स्कन्ध पर ही अधिक रही जिसमें भगवान श्री कृष्ण की कथा है। ऐसे बीसियों प्रसंग मिल जाते हैं जिनपर भागवत का ऋण है। उदाहरण-स्वरूप, कृष्ण के मथुरा-प्रवेश और राम के मिथिला-प्रवेश के प्रसंग उपस्थित किये जा सकते हैं। दोनों प्रसंगों को सामने रखने से स्पष्ट हो जाता है कि तुलसी का मूल स्रोत क्या है। किष्किन्धा कांड के अंतर्गत वर्षा और शरद वर्णन की भी यही दशा हैं; कहीं-कहीं तो तुलसी ने भागवत की सामग्री उसी प्रकार बदले बिना ग्रहण की है। भागवत के बीसवें अध्याय की लगभग समस्त सामग्री का उपयोग तुलसी ने अपने ढंग पर किया है। और भी अनेक प्रसंग है जैसे कलियुग-वर्णन, राममाहात्म्य, सत-असंत लक्षण इत्यादि।

भागवत और रामचरितमानस के दार्शनिक और आध्यात्मिक भावों में भी साम्य है। यद्यपि श्रीमद्भागवत पर अनेक दार्शनिक 'वादों' का आरोप किया गया है, हम यह जानते हैं कि उसमें मूल में अद्वैतवाद का ही समर्थन होता है। वास्तव में भागवत और रामचरितमानस का संदेश एक ही है। इसे हम अद्वैतवाद कह सकते हैं परंतु यह अद्वैतवाद शांकराद्वैत और विशिष्टाद्वैत से भिन्न है। यह भिन्न इस कारण है कि तुलसी की काव्य-भूमि उनकी अध्यात्मभूमि से प्रभावित है। वे तर्कवादी नहीं हैं। वे एक ही पंक्ति में निर्गुण ब्रह्मवादी भी हो जाते हैं

और सगुणोपासक भक्त भी। वे उत्तरकांड में कहते हैं—

जै सगुण निर्गुण रूप राम अनूप भूप शिरोमणे

इसी दृष्टिकोण के अधार पर उन्होंने निर्गुण और सगुण में तादात्म्य स्थापित किया है और कहा है—

अगुनहि सगुनहि नहिं कछु भेदा। गावत मुनि पुरान विधि वेदा ॥
निर्गुण ब्रह्म सगुन भये कैसे। जल हिम उपल विलग नहिं जैसे ॥

भागवत का दृष्टिकोण भी यही है—

इत्थं सतां ब्रह्म सुखानुभूत्या
दास्यं गतानां परदैवतेन।
मामाश्रितानां नरदारकेण
सार्द्धं विजहुः कृतपुण्य पुंजः ॥

'ज्ञानियों की रागद्वेष-विमुक्त विशुद्ध मनोवृत्ति में जो अखंड सच्चिदानन्द रूप से प्रकाशित होते हैं, दास्य भक्तिपरायण भक्त साधकों के लिए जो साक्षात् करुणानिधान परदैवत के के रूप में प्रकट होते हैं, मायाश्रित व्यक्तियों के सामने जो मनुष्य-बालक के रूप में प्रतीत होते हैं, उन्हीं साक्षात् भगवान के साथ कृत पुण्य-पुंज ब्रज-गोपाल बालक इस प्रकार विचित्र भोजन रूप लीला-बिहार कर रहे हैं।" श्रीमद्भागवत, भगवद्गीता और रामचरित-मानस तीनों ग्रंथों में निर्गुण की अपेक्षा सगुण को ही अधिक सहज-साध्य माना है। भगवद्गीता में स्पष्ट लिखा है कि अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्म में आसक्ति कठिन है। इसीलिए इन तीनों ग्रंथों में भक्तियोग की ही अधिक महत्ता है। तुलसीदास ने इसीलिए ज्ञान के पंथ को कृपाण की धार कहकर भक्ति के सहज मार्ग की प्रतिष्ठा की है। वास्तव में उपरोक्त तीनों ग्रंथों का अध्यात्म एक ही है जिसे गीताकार ने इन शब्दों में कहा है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।

अथवा—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत :

रामचरितमानस में भगवान रामचन्द्र भी इसी प्रकार कहते हैं :

जौं परलोक इहाँ सुख चहहू। सुनि मम बचन हृदय दृढ़ गहहू।
सुलभ सुखद मारग यह भाई। भगति मोरि पुरान श्रुति गाई॥

भागवत के श्री कृष्ण और मानस के रामचन्द्र में भी समानता है। भागवत के श्री कृष्ण परब्रह्म हैं और ब्रह्मा, विष्णु, महेश में कोई भी उनकी कोटि तक नहीं पहुँचता। यही परब्रह्म कृष्ण अवतार धारण करते हैं। इन परब्रह्म कृष्ण का स्वाभाविक रूप निर्गुण है परन्तु वह अपने सगुण रूप में गोलोक में निवास करते हैं। भक्तों के आनन्द के लिए यह गोलोक-निवासी कृष्ण वृन्दावन में अवतार लेते हैं। तुलसीदास ने अपने राम को भागवत के कृष्ण के समान ही प्रतिष्ठित किया है। उनके राम भी परब्रह्म हैं और सगुण रूप से साकेत-वासी हैं। ब्रह्मा, विष्णु और शिव उनकी वन्दना करते हैं। यह निर्गुण ब्रह्म भक्तों की रक्षा और पृथ्वी के भार-हरण के लिए दाशरथि राम के रूप में अवतार लेते हैं। तुलसी ने कहीं-कहीं राम को महाविष्णु भी कहा है परन्तु इस ओर उनका आग्रह अधिक नहीं दिखलाई देता। हो सकता है ऐसा अध्यात्म रामायण के प्रभाव के कारण हुआ हो जिसके राम विष्णु के अवतार हैं, परब्रह्म नहीं।

अंत में, भागवत और रामचरितमानस की तुलना करने पर हम इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि तुलसी ने भागवत से सहारा ही नहीं लिया है। उन्होंने अपने सामने भागवत का ही आदर्श रखा है। उन्होंने रामकथा को कृष्णकथा के ढांचे पर खड़ा किया है और राम का वही रूप प्रतिष्ठित

किया है जो रूप भागवत के कृष्ण का है। इस सामान्य साम्य के अतिरिक्त तुलसी ने भागवत के अनेक प्रसंगों, वर्णनों और काव्योपयोगी स्थलों से सहारा लिया है और कहीं-कहीं उनका उल्था-मात्र कर दिया है। जहाँ-जहाँ तुलसी की मनोवृत्ति भागवत की वर्णन-शैली से मिल गई है, वहाँ-वहाँ तुलसी ने वह वर्णन-शैली अपनायी है। उदाहरणार्थ हम वर्षा और शरदऋतु के वर्णन उपस्थित कर सकते हैं। तुलसी नीति को महत्व देते थे। वे समाज और व्यक्ति के जीवन को मर्यादा-भाव से पोषित देखना चाहते थे। भागवत के उपरोक्त वर्णनों ने उन्हें इसीलिए आकृष्ट किया कि इनकी शैली में वे प्रकृति-चित्रण के साथ उच्च नैतिक तत्त्वों की स्थापना कर सकते थे। भागवत में भी संत-असंत और वर्णाश्रम-संस्थापना जैसे विषयों पर लिखा गया है परन्तु तुलसी के समय में इन विषयों पर अधिक विस्तार से और अधिकारपूर्ण ढग से कहने की आवश्यकता थी। इसीलिए तुलसी ने इन प्रसंगों पर विशेष बल दिया। यह भी संभावना है कि तुलसीदास ने भागवत के उद्धव के चरित्र को अपने सामने रख कर ही भरत के चरित्र का निर्माण किया हो। सत्संग, नाम-माहात्म्य, आत्मा-परमात्मा और भक्ति-योग के प्रकरणों में भी तुलसी थोड़े-बहुत भागवत के ऋणी हैं।

———

११

एक प्रसिद्ध उक्ति

१—'सूर, सूर तुलसी सभी'—इस प्रसिद्ध उक्ति के पीछे तथ्य २—तथ्य की परीक्षा ३—तुलसी का मानस सूरसागर के सब छंदों पर भारी पड़ता है ४—केशवदास की कविता में हृदय-तत्त्व की कमी ५—उपसंहार

'सूर सूर तुलसी ससी' वाली उक्ति किसकी कही है, यह नहीं कहा जा सकता परन्तु जिस किसी ने भी इसको कहा है उसने एक बड़ा आलोचनात्मक सत्य हमारे सामने रख दिया है। काव्यों में एक प्रकार लोक-गीतों का भी है। यह माना जाता है कि लोक-गीत किसी एक कवि के बनाये नहीं होते। कोई कवि कुछ लिख गया है। दूसरा कवि आया। उसने अपने समय की जनता की भावना को पुष्ट करते हुए उसमें कुछ और जोड़ दिया। इस तरह कालांतर में वह चीज़ बनी जो हमारे पास लोकगीत के रूप में आई। इसी प्रकार एक आलोचना इस तरह की होती है जिसमें राष्ट्र का हृदय बोलता है। उस पर युग की छाप होती है। ऊपर की प्रसिद्ध पंक्ति इसी तरह की आलोचना है जो हमारे तीन बड़े महाकवियों की रचनाओं की तुलनात्मक व्याख्या कर डालती है। इसके अनुसार प्रथम स्थान सूर का है, दूसरा तुलसी का, तीसरा केशव का। अन्य कवियों के विषय में इस दोहे का अंतिम चरण है जो इस प्रकार है—'अब के कवि खद्योत सम जिहिं-तिहिं करत प्रकाश।' तो यह दोहा हमारे सारे काव्य-साहित्य पर विहंगम दृष्टि डाल लेता है। मोटे रूप से

इस आलोचना में सत्य का बहुत बड़ा अंश है, विशेष कर उस समय का ध्यान रखते हुए जब यह उक्ति बनी होगी। यह जान पड़ता है कि इसका बनाने वाला बड़ा सहृदय था। उसने सूर को प्रथम स्थान दिया है। यह उसकी सहृदयता का ही द्योतक है। सूर ने भक्ति, शृंगार और इन दोनों से भी कहीं सुन्दर जो वात्सल्य की मंदाकिनी बहाई है, वह संसार के साहित्य में अपूर्व वस्तु है। हिन्दी की तो बात ही नहीं। जितना मनोवैज्ञानिक और भावपूर्ण वर्णन सूर की रचना में है, उतना किसी भी अन्य भाषा के साहित्य में नहीं मिलेगा। निस्सन्देह सूर ने एक उपेक्षित क्षेत्र और अछूते विषय पर अपनी लेखनी चलाई है और उसमें उनका प्रतिद्वन्दी कोई भी नहीं। तुलसी सूर के वात्सल्य वाले मापदंड पर वामन ही उतरते हैं। कृष्ण यशोदा से शिकायत करते हैं—

मैया, मोहि दाऊ बहुत खिजायो।
मोसों कहत मोल को लीनो, तू यशुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु॥
गोरे नंद यशोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दै-दै हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलबीर॥
तू मोही को मारन सीखी दाउहि कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि यशुमति सुनि सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर श्याम मों गोधन की सौं, हौं माता तू पूत॥

कभी पूछते हैं—

मैया, कबहुँ बढ़ैगी चोटी!

बालक के अंतर्मन का ऐसा सुन्दर परिचय संसार के काव्य में विरल है। जन्म से लेकर किशोरावस्था तक बालक कृष्ण

न जाने कितनी लीलाओं से भक्त सूरदास को रिझाते है। इसमें संदेह नहीं कि सूर की पंक्ति-पंक्ति उनके हृदय के अमृत में डुबोई हुई है और उन्होंने हिन्दी कविता को धन्य कर दिया है। सूरदास का काव्य निःसंदेह हिन्दी की श्रेष्ठतम निधि है। यशोदा कृष्ण की बाल-लीला में कितना सुख पाती है, यह सूर ही बता सकते हैं—

भीतर तै बाहर लौं आवत

घर आँगन अति चलत सुगम भयौ देहरी में अटकावत

गिरि-गिरि परत जात नहिं उलंघी अतिश्रम होत न धावत

कभी वह साँझ के समय कन्हैया के लटने की प्रतीक्षा करती है—

साँझ भई घर आवहु प्यारे

दौरत कहा चोट लगिहै कहुँ पुनि खेलिहौ सकारे

कभी सोते हुए बालक के हित-चिंतन में मग्न है—

आँगन में हरि सोइ गए री

दोउ जननी मिलि कै, हरुए करि, सेज सहित तब भवन लए री

ये स्थल हैं सूर की शक्ति से। तुलसी ने गीतावलियों में सूर के क्षेत्र को अपनाना चाहा परन्तु वह दावत में बुलाए हुए बाहर के अतिथि ही बन कर रह गये हैं, वह गृहस्वामी नहीं बन सके। शृंगार के क्षेत्र में उन्होंने अपनी भक्ति के विशेष दृष्टिकोण के कारण इतनी ऊँची कविता नहीं की जितनी सूर ने। परंतु सब कुछ ले-देकर तुलसी का मानस सूरसागर के सब छंदों पर भारी पड़ता है। इसका कारण यह है कि तुलसी ने जीवन के अनेक अंगों को छुआ। अपने विशेष क्षेत्र में सूर की मौलिकता की जोड़ की चीज़ तुलसी में नहीं सही परन्तु उन्होंने रामकथा की ऐसी अडिग भित्ति

तैयार की है कि वह सूर से कुछ ऊँचे उठ गये हैं। वह संत, महात्मा और कवि ही नहीं रह गये। इस रचना के द्वारा वे युग-द्रष्टा भी सिद्ध हुए। सूरदास ने समाज को कृष्णभक्ति दी तो तुलसी ने राम-भक्ति। कविता का आनन्द दोनों ने दिया। परन्तु सूर ने न राष्ट्रीयता और हिंदू धर्म के नाते समाज को बल पहुँचाया, न मर्यादा और संयम के संदेश द्वारा उसे मुग़लकाल की विलासिता के ऊपर उठने को ललकारा। यही कारण है कि वर्तमान युग के कितने ही आलोचक तुलसी को सूर से बड़ा मानने लगे हैं। उनकी दिशायें अनेक थीं। जिन दिशाओं में सूर ने काम किया, उनमें भी उन्होंने श्लाघनीय काम किया। 'गीतावलिय.' और 'विनयपत्रिका' प्रमाण हैं।

और 'कठिन काव्य के प्रेत', रीतिकाल के जन्मदाता, आचार्य, पंडित, कवि केशवदास! वह पंडित बड़े अवश्य थे, यद्यपि आज इसमें भी संदेह करने के लिए स्थान है, परन्तु कवियों की पगंत में सूर और तुलसी के बाद उनका स्थान उचित नहीं जँचता। पंडिताई के बल पर जितनी कविता चल सकती है वह सब उनके यहाँ है, परन्तु आगे शून्य है। रीति-काल के कवियों में भी वह सबसे बड़े कवि नहीं कहे जा सकते। वे उसके आदि कवि सही। मतिराम, देव और बिहारी में उनसे अधिक कवित्व है। वह अलंकारपूर्ण वासनामय चित्रों में ही उलझे रह गये। जैसे—

> भौंहें सुरचाप चारु प्रमुदित पयोधर,
> भूषण जराय ज्योति तड़ित रलाई है

और

> वेणी फूल—शीशफूल—कर्णफूल माँग-फूल
> खुटिला तिलक नकमोती सोहै बालिका।

केशोदास नील वास ज्योति जगमागि रही
देह धरे श्याम संग मानो दीपमालिका

स्पष्ट है, उन्होंने काव्य का हृदय नहीं पहचाना। परन्तु प्रत्येक युग अपने भीतर तक ही देख पाता है। जिस प्रकार आलोचक कभी-कभी कलापूर्ण गांभीर्य के आगे भ्रम में पड़ जाता है, इसी प्रकार कभी २ युग भी सच्चे कवि को समझ नहीं पाता। इसके सिवा जनता की रुचि भी बदलती रहती है। आज कदाचित् केशव को कोई भी हिंदी का तीसरा बड़ा कवि नहीं मानेगा। वह कितने ही बड़े पंडित हों, आज की आलोचना मान के दंड पर वे पूरे नहीं उतरते। परन्तु एक युग था जब उनका बोल-बाला था। उस युग में केशव की कविताई की ठीक-ठीक व्याख्या करने वाले पंडित पुरस्कृत होते थे और विषय, शैली भाषा और छंद के क्षेत्र में सहस्रावधि कवि उन्हें ही आदर्श मान कर चल रहे थे।

आज भी जन-मान्यता है-'सूर सूर तुलसी ससी'। कदाचित् सूर और तुलसी के स्थानों में अंतर हो जाये। परन्तु केशवदास अब एक मात्र 'उडगण' नहीं रहे। वाणी। मन्दिर को आलोकित करने वाले दीपों में वे भी एक दीप है और उनका स्थान सूर-तुलसी के बहुत बाद है। वास्तव में इन महाकवियों के साथ उन्हें रखना असम्भव ही है। सूर और केशव के क्षेत्र इतने विभिन्न हैं कि तुलना सम्भव नहीं। राधा-कृष्ण के नामों के अतिरिक्त और क्या साम्य है ? केशव ने कृष्ण-कथा के क्रम-विकास की ओर दृष्टि ही नहीं की है। उनके राधा-कृष्ण सांकेतिक हैं। अर्थ है केवल प्रकृत नर-नारी। रामचन्द्रिका के नाते तुलसी से उनकी तुलना सम्भव है, परन्तु इससे केशव और भी छोटे पड़ जाते हैं। तुलसी मूलतः भक्त कवि थे और केशव

मूलतः रसिक पंडित-कवि। राज-दरबारों से उनका सम्बन्ध था। आश्रयदाताओं की प्रशंसा करने में उनकी काव्य-प्रतिभा चमक उठती थी और उन्हीं के मनोविनोद के लिए वे लिखते थे। सुधी राजसभागण उनके श्रोता थे। विलास-प्रिय, पांडित्यगर्वी, कलाप्रधान राज-वातावरण में लिखी रामचन्द्रिका से साधु, विनम्र, सहज-साधारण तुलसीदास की अयोध्या और काशी के मन्दिरों एवं चित्रकूट के एकांत तपोवनों में लिखे 'रामचरित मानस' से क्या समता ! कहाँ देवताओं का अमृत्य, कहाँ मानवों का मृत्य ! कहाँ गंगाजल, कहाँ अँगूरी।

१२

कबीर का व्यक्तित्व

१—संतकाव्य के सबसे प्रसिद्ध कवि—कबीर २—कबीर के स्वतंत्र और शक्तिशाली व्यक्तित्व की एक झांकी ३—कबीर के व्यक्तित्व के मुख्य अंग—आत्म-विश्वास, चरित्र की शुद्धता और दृढ़ता ४—कबीर के आत्मानुभव का उनके व्यक्तित्व पर प्रभाव ५—उनके व्यक्तित्व के द्विविध रूप—वज्रादपि कठोर और कुसुमादपि कोमल ६—कबीर में हमें मध्ययुग का सबसे विलक्षण व्यक्तित्व मिलता है; पंडित हज़ारीप्रसाद द्विवेदी का कथन।

कबीर संत-काव्य के सब से प्रसिद्ध कवि हैं। उन्हें ही हम इस काव्य-धारा का प्रतिनिधि कवि कह सकते हैं। उनकी कविता इस विचार-धारा के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है, परन्तु इससे भी अधिक महत्वपूर्ण उनका व्यक्तितत्व है। संत कवियों के काव्य में कबीर का जो प्रभाव है और भक्त कवियों ने उनके सिद्धांन्तों से जिस तीव्रता से विरोध प्रगट किया है, वह उनके व्यक्तितत्व पर पर्याप्त प्रकाश डालता है। कबीर एक अत्यन्त स्वतन्त्र-चेत्ता, मस्त-मौला और अक्खड़ धर्म-जिज्ञासु थे जिन्होंने लोक-धर्म और लोकाचार को किसी भी रूप में स्वीकार न करने का बीड़ा उठा लिया था। जहाँ तक भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास का संबंध है, इतना अक्खड़ व्यक्तितत्व किसी भी धर्मोपदेशक का नहीं है। वे झुकना तो जानते ही न थे। यह स्वतन्त्र व्यक्तितत्व जब व्यंग के भीतर से बोलता है, तब हम आश्चर्य से दांतों-तले उंगली दबा लेते हैं। ऐसी व्यक्तितत्व की तेज़ मशाल और किसकी थी? सीधी-सीधी भाषा में तेज़ से

तेज़ व्यंग कर गुज़रना, अपनी ओर से एकदम निश्चित होकर भाषा और भावना की सारी शक्ति का व्यय विरोधी के सिर पर कर देना—ये बातें कबीर की विशेषता हैं। उनका व्यक्तित्व उनके व्यंगों और तीव्र आक्षेपों में चमक उठता है—

चिउँटी के पग नेवर बाजे सो भी साहब सुनता है
पंडित होय के आसन मारे लम्बी माला जपता है
अंतर तेरे कपट-कतरनी, सो भी साहब लखता है
ऊँचा-नीचा महल बनाया, गहरी नींव जमाता है
चलने का मनसूबा नाहीं, रहने को मन करता है
कौड़ी-कौड़ी माया जोड़ी, गाड़ि ज़मीं में करता है
जेहि लहना है सो लै जइहैं, पापी वहिं वहिं मरता है
सतवन्ती को गज़ी मिलै नहीं, वेश्या पहिरै खासा है
जेहि घर साधु भीख न पावै भड़ुवा खात बतासा है
हीरा पाय परख नहिं जागे, कौड़ी परखन करता है
कहत कबीर सुनो भाई साधो, हरि जैसे का तैसा है

इस प्रकार के कथन में जहाँ ऊँचे दरजे का तत्त्वज्ञान है, वहाँ उतने ही ऊँचे दरजे का आत्म-विश्वास भी है। केवल तत्त्व-ज्ञान के बल पर कोई इतनी तेज़ भर्त्सना नहीं कर सकता। कबीर के तर्क बड़े कड़े हैं,परन्तु वे अत्यन्त लापरवाही से उनका प्रयोग करते हैं। जीवन के विभिन्न पहलुओं से इकट्ठे किए हुए अनुभव उनके आक्रमण को बलवान बना देते हैं।

उनके इस आत्म-विश्वास के मूल में अवश्य ही उनका चरित्र-बल है। इसी चरित्र की शुद्धता और दृढ़ता के कारण कबीर सभी मत-मतान्तरों का विरोध करते हुए भी सहस्रों-सहस्रों मनुष्यों के जीवन को प्रभावित करने में सफल हुए। जिस में चारित्रिक शुद्धता और तत्प्राप्त साहस नहीं होता, वह इतने ऊँचे स्वरों से नहीं बोलता—

झीनी-झीनी बीनी चदरिया
काहे कै तान। काहे कै भरनी, कौने तार से बीनी चदरिया
इंगला-पिंगला ताना-भरनी, सुषमन तार से बीनी चदरिया
आठ कँवल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त्व गुन तीनी चदरिया
साईं को सियत मास दस लागे, ठोक-ठोक कै बीनी चदरिया
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़िन, ओढ़ि के मैली कीन्ही चदरिया
दास कबीर जतन से ओढ़िन, ज्यों का त्यों धर दीनी चदरिया

अंतिम पंक्तियों में जो भाव है, वह अद्वितीय है। यह चरित्र-बल की दृढ़ता ही कबीर की सफलता का मूल मंत्र है। इस उक्ति में दम्भ नहीं, पाखंड नहीं, अपनी महत्ता की स्वीकृति नहीं। इसमें आत्म-विश्वास की तीक्ष्णता अवश्य है जो किसी भी प्रकार अनुचित नहीं कही जा सकती। जो कुछ कहा गया है, वह हृदय में आदर उठाता है, मन को विश्वास के लिए आग्रह करता है। उससे हृदय में विद्रोह नहीं जागता।

परन्तु केवल चरित्र-बल ही वह शक्ति नहीं दे सकता जो कबीर के व्यक्तित्व के द्वारा उनके काव्य में प्रस्फुटित हुई है। वह है विश्वासपूर्ण आत्मानुभव। कबीर की भाषा इसीलिए इतनी चमत्कारिक है कि उन्होंने तर्क-जाल में न पड़कर व्यावहारिक ज्ञान और लोकानुभव के सहारे पाखंडों पर चोट की है। उनके चोट करने का ढंग इस पद से साफ़ हो जायगा—

चली है कुल-बोरनी गंगा नहाय
सतुआ कराइन बहुरी भुजाँइन, घूंघट ओढ़े मसकत जाय
गठरी बांधिन मोटरी बांधिन, सास के मूँडै दिहिन धराय
बिछुवा पहिरिन आंठा पहिरिन, भानी खसम के मारिन जाय
गंगा न्हाइन, जमुना न्हाइन, नौ मन मैल है तिहिन चढ़ाय
पांच पचीस कै धक्का खाइन, घरहूँ की पूंजी आई गवांय
कहत कबीर हेत कर गुरु सों, नहि तो मुकुती जाइ नसाय

यहां व्यंग की तेजी है, परन्तु वह सुनने वाले को मज़ा देती है और कहने वाले को तृप्त करती है। इसकी चोट भी इतनी गहरी है कि हृदय ही जानता है।

परन्तु इस सब का तात्पर्य यह नहीं है कि कबीर का व्यक्तित्व कठोर था। सच तो यह है कि वह जितना कठोर था उतना ही कोमल था। यह कोमलता उनकी भक्ति-भावना द्वारा आती है। जो इस अद्वैत भाव का उपासक है कि—

हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या?
रहें आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या?
जो बिछुड़े हैं प्यारे से भटकते दर-बदर फिरते?
हमारा यार है इसमें हमन को इन्तजारी क्या!

उसका विरोध कितना ही कठिन हो, वह प्रेम का ही विरोध हो सकता है, घृणा का नहीं हो सकता। वह बाहर से चाहे जितने कठोर है, भीतर से अत्यन्त कोमल है। संसार के माया-जाल में लिप्त मानव-जीवन की असारता और काल की सर्वग्रासिता को देख कर कबीर रोते हैं—

चलती चक्की देख कर दिया कबीरा रोय।
दो पाटन के बीच में साबत रहा न कोय।

विनय-भावना में तो वे भक्त-कवियों को भी मात करते हैं। किसने इतनी नम्रता दिखाई है, इतना गहरा आत्म-समर्पण किया है जैसा कबीर की इन साखियों में किया गया है—

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ
गलै राम की जेवड़ी जित खैंचे तित जाउँ
तो तो करे तो बाहुजै, दुरि-दुरि करै तो जाउँ
ज्यूँ हरि राखै त्यूँ रहौं, जो देवैं सो खाउँ

स्पष्ट है, जहाँ पाखंडों के प्रति कबीर कठोर हैं, वहाँ सामान्य जीवन के प्रति विनयी हैं। उनके व्यक्तित्व में अनेक विषम तत्त्वों

का समावेश है। विनम्रता और अक्खड़पन, ज्ञान और भक्ति, आत्मग्लानि और आत्म-विश्वास, सतर्कता और लापरवाही। यही विरोध तत्व उन्हें जनता के लिए आकर्षक बना देते हैं। तुलसी को छोड़कर और कोई भी कवि उत्तर भारत की जनता के इतने समीप नहीं पहुँचा है। इस व्यक्तित्व में एक साथ अनेक विरोधी तत्वों का निवास है जो हमें आश्चर्य-चकित कर देता है परन्तु वह साथ ही हमारे भीतर उनके प्रति प्रेम और श्रद्धा के भाव कों भी जन्म देता है। आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने ठीक ही कहा है—'युगावतार की शक्ति और विश्वास लेकर वे कबीर पैदा हुए थे और युग-प्रवर्तक की दृढ़ता उनमें वर्तमान थी। इसी लिए वे युग प्रवर्तन कर सके थे। एक वाक्य में, उनके व्यक्तित्व को कहा जा सकता है, वे सिर से पैर तक मस्त-मौला थे बेपरवाह, दृढ़, उग्र-कुसुमादपि कोमल, वज्रादापि कठोर। सचमुच, भारतीय इतिहास में कबीर का व्यक्तित्व अनोखी वस्तु है। इसी व्यक्तितत्व के कारण उनके साहित्य में भी अनोखा-पन आ जाता है और उमें स्थान-स्थान पर अनेक विषम तत्वों के दर्शन होते हैं। जो हो, यह निश्चित है कि कबीर के व्यक्तित्व और उनके साहित्य में पूर्ण रूप से सामजंस्य है और ये दोनो हमारे देश की महत्वपूर्ण सम्पत्ति हैं। जैसे-जैसे हम कबीर के व्यक्तितत्व और उनके साहित्य का अध्ययन करते जायेंगे वैसे वैसे-अधिक चमत्कृत होते जायेंगे।

१३

प्रेमचन्द की भाषा शैली

(१) भाषा-शैली के विकास की दृष्टि से प्रेमचन्द का महत्त्व २—प्रेमचन्द की रचनाओं में भाषा-शैली का रूप ३—प्रेमचन्द की भाषा-शैली की विशेषताएँ: प्रवाह, चित्रांकन-शक्ति, अलंकार-निर्वाह, मनोवैज्ञानिकता ४—प्रेमचन्द के प्रकृतिवर्णन की शैली ५—प्रेमचन्द की भाषा के पात्रानुरूप भेद ६—प्रेमचन्द की भाषा-शैली की साहित्यिकता ७—उपसंहार : प्रेमचन्द भाषा-शैली की दृष्टि से भी बहुत बड़े कलाकार हैं।

प्रेमचन्द हिन्दी के सब से अधिक लोकप्रिय कहानीकार और उपन्यासकार हैं, परन्तु भाषा-शैली की दृष्टि से भी प्रेमचन्द महत्वपूर्ण हैं। उनकी भाषा उनकी इतनी अपनी है कि उसका नाम ही प्रेमचन्दी भाषा पड़ गया है। उनकी भाषा चुस्त, मुहावरों से सजी और परुष है। उसमें उर्दू-फ़ारसी के चलते हुए शब्दों का प्रयोग होता है। पात्रों के अनुसार वे भाषा बदल देते हैं। उनके मुसलमान पात्र कहीं ठेठ उर्दू, कहीं फ़ारसी-मिश्रित हिंदी बोलते हैं। उनके पण्डित संस्कृत-गर्भित भाषा का प्रयोग करते हैं। गाँव का वातावरण उपस्थित करने के लिए वह प्रांतीय और प्रादेशिक शब्दों का भी प्रयोग करते हैं। उनकी भाषा में लोच है, प्रवाह है और प्रसाद गुण है। प्रेमचन्द की देन यही भाषा है जिसे हिंदू भी समझ सकता है और मुसलमान भी। आज जिस हिन्दुस्तानी की बातचीत हो रही है वह यही प्रेमचन्द की भाषा है। नाटक, उपन्यास और कहानी के लिए यह भाषा बहुत उपयुक्त रही है।

परन्तु स्वयं प्रेमचन्द की समस्त रचनाओं में भाषा का रूप एक-सा नहीं है। वह उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त होती गई है। उनके 'वरदान' (१६०६) और गोदान (१६३६) की भाषा-शैलियों की तुलना से यह बात सिद्ध हो जायगी । 'वरदान' की भाषा में प्रवाह की मात्रा अधिक नहीं है और उसमें ठेठ मुहावरे संस्कृत शब्दों से सटा कर रखे हुए मिलते हैं । उर्दू के शब्दों का अधिक प्रयोग भी नहीं है। यह लेखक की प्रारंभिक रचना है—प्रयास स्पष्ट है। प्रेमचन्द वर्षों से उर्दू में लिख रहे थे। अब हिंदी में आ रहे हैं तो सतर्क हैं। इसी से उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में उस उत्कृष्ट "हिंदुस्तानी" का रूप नहीं मिलता जिसके वे आविस्कर्ता हैं। 'गोदान' में हिंदी की जातीय शैली का बहुत परिस्कृत और विकसित रूप मिलेगा। यह जातीय शैली १६०६-७ के आस-पास "सरस्वती" के माध्यम से पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी द्वारा उपस्थित की गई थी। उनकी प्रौढ़ प्रतिनिधि-शैली के लिए 'गोदान' का यह उदाहरण काफ़ी होगा—"होरी लाठी कंधे पर रख कर घर से निकला तो धनिया द्वार पर खड़ी उसे देर तक देखती रही। उसके इन निराशा-भरे शब्दों ने धनिया के चोट खाये हुए हृदय में आतंक भय, कम्पन-सा डाल दिया था। वह जैसे अपने नारीत्व के सम्पूर्ण भय और व्रत से अपने पति को अभय-दान दे रही थी। उसके अंतःकरण से जैसे आशिर्वादों का व्यूह-सा निकलकर ह री को अपने अन्दर छिपाये लेता था। विपन्नता के इस अथाह सागर में सोहाग ही वह तृण था, जिसे पकड़े हुए वह सागर को पार कर रही थी। इन असंयत शब्दों ने यथार्थ के निकट होने पर तो मानों झटका देकर उसके हाथ से वह तिनके का सहारा छीन लिया। बल्कि यथार्थ के निकट होने के कारण ही उनमें इतनी वेदना—शक्ति आ गई थी ।काना

कहने से काने को जो दुःख होता है, वह क्या दो आँखों वालों को हो सकता है ?" वैसे प्रेमचन्द के उपन्यासों और उनकी कहानियों में और और शैलियां भी मिल जाती हैं, परन्तु यह शैली प्रेमचन्द की सब से प्रौढ़ शैली है और हिन्दी की जातीय शैली के सब से अधिक निकट है ।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली का सब से अधिक चमत्कार उनके वर्णनों में मिलता है । भाषा का प्रवाह, भाषा की चित्रांकन-शक्ति, भाषा का अलंकार-निर्वाह । यह सब देखने योग्य है । वर्णन करते समय प्रेमचन्द अपने संयम को भूल जाते हैं और स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता का ध्यान रखे बिना दूर तक बहे चले जाते हैं । परन्तु उनकी वर्णन-शैली इतनी आकर्षक होती है कि एक पंक्ति को भी छोड़ा नहीं जा सकता । उनके उपन्यासों को अध्ययन से पता चलता है कि यह वर्णन बराबर छोटे और संश्लिष्ट होते गए हैं । परन्तु सेवासदन से गोदान तक हमें वर्णनों की ऐसी-अद्भुत चित्रपटी मिल जाती है कि हम आश्चर्य-चकित रह जाते हैं ।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली की दूसरी बड़ी विशेषता उसकी मनोवैज्ञानिकता है । प्रेमचन्द मनोविज्ञान के पंडित हैं । उनका मनोविज्ञान भाषा के द्वारा बड़े सुन्दर रूप में विकसित हुआ है । उनकी प्रारम्भिक रचनाओं में ही मनोवैज्ञानिक पकड़ हमें मिलने लगती है । वरदान में माधवी का मनः-संघर्ष देखिए—"माधवी उठी, परन्तु उसका मन बैठा जाता था । जैसे मेघों की काली घटायें उठती हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि सब जल-थल हो जायगा परन्तु पछुवा वायु चलने के कारण सारी घटा काई की भांति कट जाती है, उसी प्रकार इस समय माधवी की गति हो रही थी ।" यदि इसी बात को सीधी अनलंकृत भाषा में कहना पड़ता तो निस्सन्देह इससे अधिक

वाक्य लिखने पड़ते। परन्तु कहीं-कहीं यह मनोवैज्ञानिक विश्लेषण बहुत बड़ा हो जाता है और उसमें नैतिक तत्त्व, हृदयोद्गार, प्रलाप, चिंता—इतनी बहुत प्रवृत्तियाँ उलझी-उलझी चलती हैं कि पाठक इस विस्तृत मनोविश्लेषण से ऊब कर आगे बढ़ना चाहता है। 'प्रेमाश्रम' और 'कायाकल्प' में ऐसे अनेक स्थल मिलेंगे, परन्तु 'गोदान' में प्रेमचन्द प्रकृतिस्थ हो गये हैं और उनकी मनोवैज्ञानिक पकड़ और भाषा-शैली में अद्भुत संतुलन दिखलाई पड़ता है।

प्रेमचन्द के प्रकृति-वर्णन भाषा के जगमगाते हुए हीरे हैं। ये हीरे उनके उपन्यासों और उनकी कहानियों में बिखरे हुए मिलेंगे। उपयोगितावादी प्रेमचंद बिना मतलब प्रकृति-चित्र उपस्थित नहीं करते जैसी परिस्थिति हम 'हृदयेश' के उपन्यासों में पाते हैं। जहाँ पिछले खेवे के उपन्यासकार प्रकृति को 'कादम्बरी' के भीतर से देखते थे या बँगला उपन्यासों के ढंग पर उस पर नायक-नायिका के सुख-दुख का आरोपण कर उसे विकृत बना देते थे, वहां प्रकृति के प्रेमी प्रेमचन्द ने प्रकृति को लेकर न शब्द बर्बाद किए हैं, न व्यर्थ के बतंगड़ खड़े किये हैं। ऊहापोहात्मक प्राकृतिक वर्णन से उन्हें चिढ़ थी। वे 'प्रसाद' की भांति प्रकृति को रोमांस के भीतर से नहीं देखते थे। परन्तु उनका प्रकृति-प्रेम उनके प्रत्येक वर्णन में फूटा पड़ता है। गाँव की प्रकृति का ऐसा सुन्दर वर्णन तो उनके सिवा और कहीं मिलेगा ही नहीं। अन्य उपन्यासकारों की दृष्टि शहर की चहार-दीवारी से बाहर ही नहीं जा पाती। रंगभूमि का यह चित्र किसी महान चित्रकार की तूलिका के सहज ही स्पर्धा कर सकता है—

"अरावली की हरी-भरी, झूमती हुई पहाड़ियों के दामन में, जसवंत-नगर यों सो रहा है जैसे बालक माता की गोद में। माता के स्तन से जैसे दूध की धारें प्रेमोद्गार से विकल, उबलती,

मीठे स्वरों में गाती निकलती हैं और बालक के नन्हें मुख में न समाकर नीचे बह जाती है। प्रभात की स्वर्ण-किरणों में नहा कर माता का स्नेह सुन्दर मुख निखर गया है और बालक भी अंचल से मुँह निकाल कर, माता के स्नेह-पल्लवित मुख की ओर देखता है, हुमुकता है और मुस्काता है, पर माता उसे अंचल से ढक लेती है कि कहीं उसे नज़र न लग जाय।" इस वर्णन में 'रूपक' का आश्रय लेकर एक अत्यन्त सुन्दर काव्य-चित्र उपस्थित किया जा रहा है। हमारे सारे पिछले काव्य में प्रकृति को अलंकारों और रूढ़ि-विधानों के भीतर से देखा गया है, परन्तु जसवंत नगर का यह चित्र माँ, शिशु के सहज संबंध की तरह ही चिर पुरातन, चिर नूतन है। इसके जोड़ की चीज़ हमारे यहां थी ही नहीं। प्रकृति को लेकर अनेक संश्लिष्ट चित्र भी प्रेमचंद के साहित्य में मिलेंगे।

प्रेमचन्द के उपन्यासों में पात्रों की भाषा भी कम आकर्षक नहीं है। इस क्षेत्र में प्रेमचन्द के सामने दो प्रकार की समस्यायें थीं। एक तो यह है कि वे उन नये पात्रों की भाषा को क्या रूप दें जिसका सम्बन्ध खड़ी बोली हिन्दी से स्थापित न हो पाया था। दूसरे कि वे अपनी भाषा के उर्दू वाले प्रवाह को बनाए रखते हुए संस्कृत शब्दों का कहाँ तक प्रयोग करें। प्रेमचन्द की रचनाओं में इन समस्याओं का उत्तर भली भाँति मिल जाता है। प्रेमचन्द ने पात्रानुकूल बड़ी स्वाभाविक भाषा-शैली का प्रयोग किया है। मुसलमानों और ग्रामीणों की भाषा के संबंध में भी प्रेमचन्द सदैव सतर्क रहे हैं। उनके मुसलमान फारसी-मिश्रित भाषा का प्रयोग करते हैं और उनके ग्रामीण खड़ी बोली में बराबर ग्रामीण शब्दों का प्रयोग करते चलते हैं। प्रेमचन्द ने पूर्णतः ग्रामीण भाषा का प्रयोग कहीं भी नहीं किया है। करते तो वे पाठकों के लिये दुरूह हो जाते। परन्तु फिर भी

क्या 'प्रेमाश्रम' के देहाती पात्रों की भाषा वही है जो शहरी पात्रों की है ? क्या प्रेमचन्द ने देहाती भाषा में प्रयोग में आने वाले सैकड़ों शब्दों को अपने उपन्यासों और अपनी कहानियों में स्थान नहीं दिया है ? क्या उनके गोबर, मनोहर, सुजान और क़ादिर सभी ग्रामीण पात्रों की भाषा सामान्य देहाती भाषा के पास नहीं पड़ती ।

प्रेमचन्द की भाषा की एक ख़ास ख़ूबी उनका मुहावरों का प्रयोग है । उनके सिवा किसी भी अन्य साहित्यकार की भाषा में मुहावरों का इतना अधिक, इतना सार्थक प्रयोग नहीं हुआ है । उनके सारे साहित्य में कई हज़ार से कम मुहावरे न आये होंगे । भावों की गहनता और तीव्रता के प्रगट करने में इन मुहावरों ने चमत्कारिक सहायता दी है । मुहावरों के सिवा कहावतों और सूक्तियों का एक बड़ा ढेर उनके साहित्य में इकट्ठा है । सूक्तियाँ प्रेमचन्द की विशेषता हैं । कहीं तो ये सूक्तियाँ दो चार पंक्तियों की हैं, कहीं वे ग्रन्थकार के आत्मचिंतन का रूप धारण कर अधिक विस्तार पा जाती हैं । परन्तु प्रेमचन्द की भाषा की सब से बड़ी विशेषता है उसकी काव्यात्मकता । उपमा, उदाहरण, उत्प्रेक्षा—कितने ही अलंकारों के भीतर से बहकर आने वाला कल्पना-सौन्दर्य हमें आकर्षित ही नहीं कर लेता महत्वपूर्ण तथ्यों का भी उद्घाटन करता है । प्रेमचन्द के साहित्य में उपमाओं-उत्प्रेक्षाओं की फुलझड़ी बराबर छूटती रहती है । ये उपमायें-उत्प्रेक्षायें और उदाहरण बहुत संक्षिप्त होते हैं, परन्तु मानव-प्रकृति का गहरा अध्ययन इनमें छिपा रहता है । उनकी भाषा सरल और सर्व-सुगम होती है और वह आध्यात्मिक, वैयक्तिक एवं सामाजिक सच्चाई को अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में हमारे सामने रखते हैं । उनसे लेखक की तीक्ष्ण पर्यवेक्षण-शक्ति और सूक्ष्म दृष्टि का पता चलता है ।

संक्षेप में, प्रेमचन्द भाषा-शैली के भी बड़े कलाकार हैं। उनकी अपनी वैयक्तिक शैली है। उनकी प्रारम्भिक रचनाओं से लेकर उनकी अंतिम रचनाओं तक शैली में विशेष अंतर नहीं आया है, हाँ, उसके भिन्न २ रूप प्रकाश में आते रहे हैं और वह बराबर पुष्ट होती रही है। 'कायाकल्प' तक शैली धीरे-धीरे तत्समता और काव्यात्मकता से हट कर संयम और मितव्ययता की ओर जा रही है। 'गोदान' में हम उसके सब से सुन्दर, सुष्ठु और संयमित रूपों से परिचित होते हैं। भाषा तत्सम-प्रधान है, शैली गीति-काव्य की शैली की भांति संगठित, संयोजित और स्वस्थ। प्रेमचन्द जो कहना चाहते हैं वह कम-से-कम शब्दों में अधिक-से-अधिक प्रभाव के साथ कह देते हैं। सचमुच, वे हमारी भाषा के श्रेष्ठतम कलाकार हैं। उनकी भाषा-शैली निर्द्वन्द, स्वच्छन्द, उनकी अपनी छाप से पुष्ट है, परन्तु उसमें सच्चे अर्थों में हमारी भाषा की जातीय शैली होने की क्षमता है।

— ——

१४

हितहरिवंश और सूरदास

१—भूमिका २—हितहरिवंश और सूरदास के काव्य की एतिहासिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, ३—सूरदास के काव्य पर हितहरिवंश का प्रभाव ४—'हित-चौरासी' और 'सूरसागर' ५—' राधावल्लभी समुदाय और 'पुष्टिमार्ग' ६—दोनों कवियों की राधा ७—हितहरिवंश के दृष्टिकोण की सीमायें ८ उपसंहार—

सूरदास ने जिस समय महाप्रभु बल्लभाचार्य के आग्रह में 'घिघियाना' छोड़कर कृष्ण-कथा को अपना विषय बनाया, तब हितहरिवंश, हरिदास और बैजू बावरे के गीतों की कड़ियाँ ब्रज की गलियों में गूँज रही थीं। यह असंभव था कि सूर इन गीतों से प्रभावित न होते। इनमें हितहरिवंश के काव्य में साहित्य की मात्रा अधिक थी और उसमें अत्यन्त मधुर, अत्यन्त प्रभावपूर्ण साधना का विकास हुआ था। सूरदास ने ब्रह्म-वैवर्त्त पुराण के आधार पर राधा की कथा को नवनीतप्रिय (बालकृष्ण) की कथा से जोड़ दिया। अनेक प्रसंग उन्हें अपनी ओर से गढ़ने पड़े, परन्तु कुछ प्रसंग या तो ब्रज-क्षेत्र के लोक-गीतों में उपस्थित थे या हितहरिवंश और बंगाली वैष्णवों की विचारधारा में। ज्ञात पड़ता है, हितहरिवंश के काव्य ने उन्हें विशेष सहायता दी होगी। पनघट-लीला, दानलीला, मान, मान-मोचन, रास और निकुंज विहार के अनेक चित्र हित-हरिवंश के काव्य में उसी तरह मिलते हैं जिस तरह सूरदास के काव्य में। कहीं-कहीं तो इतनी समानता है कि आश्चर्य होता है। उदाहरणार्थ—

आवत श्री वृषभानु दुलारी।
रूप रासि अति चतुर शिरोमणि
अंग अंग सुकुमारी॥
प्रथम उबटि मञ्जन करि मज्जित
नील बरन तन सारी।
गुंथित अलक तिलक अति सुन्दर
सेंदुर माँग सँवारी॥
मृगज समान नैन अंजन युत
रुचिर रेख अनुसारी।
जटित लवंग ललित नासा पर
दशनावलि कृतकारी॥
श्रीफल उरज कसूँभी कंचुकि
कसि उपरि हार छवि न्यारी।
कृश कटि उदर गँभीर नाभि-पुट
जघन नितम्बनि भारी॥
मनु मृणाल भूषण भूषित भुज
श्याम अंस पर डारी।
जय श्री हितहरिवंश युगल करणी
गज विहरत बन पिय-प्यारी॥
(हितहरिवंश)

बरनौं श्री वृषभानु कुमारि।
चित दै सुनौं स्याम सुन्दर छबि रति नाहीं अनुहारि॥
प्रथमहिं सुभग स्याम बेनी की शोभा कहौं बिचारि।
मानौ फनिग रह्यौ पीवन कौं ससि-मुख सुधा निहारि॥
कहिए कहा सीस सेंदुर कौं पिक तौं रही पचि हारि।
मानौ अरुन किरनि दिनकर की पसरी तिमिर बिदारि॥
(सूरदास)

कहा कहौं इन नैननि की बात।
ये अलि प्रिया-बदन अंबुज-रस—
अटके अनत न जात॥
जब-जब रुकत पलक संपुट लट अति आतुर अकुलात।
लंपट लव निमेष अन्तर तैं अल्प कल्पसत सात।
श्रुति पर कुंज दृगंजन कुच बच मृगमद ह्वै न समात।
जय श्री हितहरिवंश नाभि सर जलचर याँचत साँवल गात।

(हितहरिवंश)

खंजन नैन रूप रसमाते।
अतिशय चारु चपल-अनियारे पलपिंजरा न समाते॥
चल-चल जात निकट श्रवनन के उलट-पलट ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुण अटके नातर कब उड़ि जाते॥

(सूरदास)

प्रीति न काहू की कानि विचारै।
मारग अपमारग विथकित मन को अनुसरत निवारै॥
ज्यौं सरिता श्रावण जल उमगत सनमुख सिंधु सिधारै।
ज्यौ नादहिं मन दियै कुरगनि प्रगट पारधी मारै॥
जय श्री हितहरिवंश हिलग सारँग ज्यौं सलभ शरीरहि जारै।
नायक निपुन नवल मोहन बिनु कौन अपनुपौ हारै।

(हितहरिवंश)

ऊधौ प्रीति न मरन विचारे।
प्रीति पतंग जरै पावक परि, जरत अंग नहिं टारै।
प्रीति परेबा उड़त गगन चढ़ि गिरत न आप सम्हारै॥
प्रीति मधुप-केतकी कुसुम बसि कण्टक आपु प्रहारै।

प्रीति जानु जैसे पय-पानी जानि अपनुपौ जारै॥
प्रीति कुरंग नाद-रस लुब्धक तानि-तानि सर मारै।
प्रीति जान जननी सुतकारन को न अपनयौ हारै॥
सूर श्याम सों प्रीति गोपिन की बहु कैसे निरवारै!

(सूरदास)

ये तो कुछ साहित्यिक स्थल हैं, परन्तु सुरति, सुरतांत, विपरीत इत्यादि से तो यह समानता और भी बढ़ गई है। कहीं-कहीं यह समानता इतनी अधिक है कि हित-चौरासी के कुछ पद सूरदास के संग्रहों में स्थान पा गये हैं। भाषा-शैली में भी अधिक भेद नहीं है। केवल छाप-मात्र बदलने से पाठक को भ्रम में डाला जा सकता है। 'हित-चौरासी' टट्टी संप्रदाय की धार्मिक पुस्तक है। इसकेपदों की प्रामाणिकता में कोई संदेह नहीं हो सकता। अतः स्पष्ट है कि हितहरिवंश का प्रभाव सूरदास ने भी ग्रहण किया और इस प्रभाव की अधिकता के कारण उनके भक्तों ने भ्रमवश हितहरिवंश के कुछ पद उनके पदों के साथ मिला दिये।

टट्टी संप्रदाय की भक्ति और पुष्टिमार्ग की भक्तिमें बहुत बड़ा अतर है। इसका समझ लेना आवश्यक है। इस भेद को समझ कर ही हम हितहरिवंश और सूरदास की साधना और उनके काव्य का भेद समझ सकते हैं। 'श्री सेवकवाणी' से हितहरिवंश के टट्टी संप्रदाय की आस्थाओं पर प्रकाश पड़ता है। उनके अनुसार जहाँ हरिवंशी भक्ति है, वहाँ व्रत, संयम नेम आदि को स्थान नहीं मिलता। वहाँ जाति-कुल-भेद का भी विचार नहीं है। इस रस में न कोई विधि है, न कोई निषेध। इसमें ज्ञान-ध्यानादि प्रयासों का बाध है। वह कहते हैं—

जहाँ श्री हरिवंश प्रेम उन्माद
तहाँ कहाँ स्वारथ निस्वाद ?
वाद-विवाद तहाँ नहीं !

वास्तव में हरिवंशी भक्ति उच्च श्रेणी की सख्यप्रधान आत्मसमर्पणमयी तन्मयासक्ति है। भक्त भगवान के निकुंज-लीला-रस में विभोर होकर अहर्निशि युगलकेलि का रस लेता रहे। वह श्यामा-श्याम में एक भाव माने—

श्री हरिवंश सुरीति सुनाऊँ।
श्यामा-श्याम एक सँग गाऊँ॥
छण इक कबहुँ न अंतर होई।
प्राण सु एक देह हैं दोई॥

राधा-संग बिना नहीं श्याम।
श्याम बिना नहिं राधा नाम॥
छण-छण प्रति आराधत रहहीं।
राधा नाम श्याम तब कहहीं॥

ललितादिकन संग सचु पावैं।
श्री हरिवंश सुरत रति गावैं॥

बल्लभाचार्य ने जिस पुष्टि-भक्ति की आयोजना की थी उसमें वात्सल्य की प्रधानता थी। सखा-भाव से राधा-कृष्ण-गोपन-केलि में भाग लेने की साधना बाद की चीज है। विट्ठलनाथ के समय में ही इसका विशेष विकास हुआ। 'शृंगार-रस-मंडन', 'राधा-सुधाकेलि' इत्यादि ग्रंथों को लिखकर बिट्ठलनाथ ने पुष्टिमार्ग में राधा का महत्व बढ़ाया। वास्तव में राधा को साथ लिये बिना मध्ययुग का कोई भी कृष्ण-भक्ति-संप्रदाय चल नहीं सकताथा। इसीलिए युग की आस्था का ध्यान रखते हुए पुष्टि मार्ग में निकुंजलीला का

समावेश किया गया। सूरसागर में सूरदास ने हरिदास और हितहरिवंश का नाम बड़े आदर से लिया है। सूरदास के काव्य के अनेक स्थल ऐसे हैं जिनपर हरिवंश का प्रभाव सूचित होता है। कालांतर में पुष्टि मार्ग में वात्सल्य-भक्ति के साथ सख्य-भक्ति (मधुर भक्ति) का भी समावेश हो गया और कृष्ण की गोपन निकुंज-लीला में भाग लेने वाले अष्ट सखाओं और अष्ट सखियों की भी योजना हुई। स्पष्ट है कि यह सब परवर्ती विकास है और इस पर हित-संप्रदाय की मान्यताओं का प्रभाव है।

हितहरिवंश के राधा-वल्लभी संप्रदाय की धारणाओं को पूर्णतयः समझने के लिए माध्व संप्रदाय के सिद्धान्तों को समझना भी आवश्यक हो जाता है। इसका कारण यह है कि हितहरिवंश पहले माध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे उन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मंत्र दिया और उन्होंने अपना एक स्वतंत्र संप्रदाय बनाया। जो हो, यह निश्चित है कि राधावल्लभी संप्रदाय माध्व संप्रदाय से एकांततः भिन्न नहीं है। श्री संप्रदाय की तरह माध्व संप्रदाय भी प्राचीन दार्शनिक संप्रदाय है जिसके प्रमुख आचार्य श्री मध्व हैं। इस संप्रदाय का का कहना है कि इस मत के आदि गुरु ब्रह्मा हैं परन्तु श्री मध्वाचार्य से पहले इस मत का कोई उल्लेख नहीं मिलता। माध्व संप्रदाय द्वैतवाद का समर्थक है। हिंदी साहित्य में इस संप्रदाय का प्रभाव चैतन्य के माध्यम से आया। स्वयं चैतन्य से दीक्षाप्राप्त गोपाल भट्ट ने कृष्ण काव्य में महत्वपूर्ण योग दिया है। ब्रज-प्रदेश में यह संप्रदाय वल्लभ-संप्रदाय से बहुत पहले ही प्रतिष्ठित था और यह निश्चित है कि वल्लभ-संप्रदाय और अन्य कृष्ण-भक्ति-संप्रदायों की गति-विधि पर इसने महत्वपूर्ण प्रभाव डाला है। परन्तु यह भी

निश्चित है कि हितसंप्रदाय और माध्व-संप्रदाय की अनेक महत्वपूर्ण धारणाओं में अंतर है। माध्वदर्शन तर्कप्रधान है, अनुभूति-प्रधान नहीं। उसके चिंतन पर नैयायिकों और सांख्य मतावलंबियों की छाप स्पष्ट है। माध्व-संप्रदाय में भी भागवत की रास-पंचाध्यायी मान्य नहीं है। हितहरिवंश की साधना का तो यह प्राण है। माध्व-मतवाद में राधा की भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है, न कृष्ण की वृन्दावन (निकुंज) लीला के लिये ही विशेष मोह है। जान पड़ता है, हितहरिवंश ने द्वैतवाद की पृष्ठभूमि पर रासपंचाध्यायी के सहारे एक विशिष्ट ढंग की मधुर साधना का प्रवर्तन किया। जयदेव और ब्रह्मवैवर्त पुराण ने उन्हें अपना मत स्थिर करने में बड़ी सहायता की होगी। सन् १५२५ ई० में उन्होंने वृन्दाबन में श्री राधाबल्लभ जी की मूर्ति की स्थापना की और वहीं विरक्त-भाव में रहने लगे।

सूरदास और हितहरिवंश के काव्य की तुलना करने पर यह निश्चित हो जाता है कि हितहरिवंश का दृष्टि-कोण एकांगी है। भक्ति-भावना की दृष्टि से चाहे यह कितना ही उपादेय हो इसमें संदेह नहीं कि साहित्य की दृष्टि से इसने हितहरिवंश के क्षेत्र को सीमित कर दिया है। कृष्ण की सारी बालकथा और उनके ऐतिहासिक चरित्र का इस दृष्टिकोण से बाध हो जाता है। केवल तरुण राधाकृष्ण की प्रेम-विलास की निभृत लीलायें रह जाती हैं। सूरदास ने इसे अंश-रूप में ही ग्रहण किया है, परन्तु हितहरिवंश इससे आगे बढ़ते ही नहीं। कृष्ण तो उन्हें राधा के नाते ही प्रिय हैं। राधा का शृंगार, राधा की सुरतांत छवि राधा का कोक-कला-ज्ञान यही कुछ उनके काव्य के विषय रह जाते हैं। वे ही नागरता की राशि हैं—

नागरता की राशि किशोरी ।
नवनागर कुल-मौलि सांवरौ बरबस कियो चितै मुख मोरी ॥
रूप रुचिर अँग-अँग-माधुरी बिनु भूषण भूषित ब्रज गोरी।
त्तणत्तण कुशल सुगंध अंग में कोकरभाँति रस सिंधु झकोरे ॥
चंचल रसिक मधुप मोहन मन राखे कनक कमल कुच कोरी ।
प्रीतम नैन युगल खञ्जन खग बांधे विबिध निरंधन डोरी ॥
अवनी उदर नाभि सरसी में मनहुँ कछुक मादिक मधु घोरी।
जयश्रीहितहरिवंश पिवत सुन्दरवर सींवसुदृढ़ निगमन की तोरी॥

अनेक छंदों में, अनेक प्रसंगों में हितहरिवंश इन्हीं परम नागरिका राधा को वर्णन करते नहीं अघाते। उनकी एकांत साधना का सहज रूप देखिये। वे राधा की इस सुरतंत छवि पर मुग्ध हैं और इसका ध्यान कर अपनी इन्द्रियों को विषय-सुख से ऊपर उठा रहे हैं :

आज अब देखियत है हो प्यारी रङ्ग भरी ।
मो पै न दुरत चोरो वृषभानु की किशोरी शिथिल कटि की डोरी नन्द के लालन सों सुरत लरी ॥ मोतियन की लर टूटी चिकुर चंद्रिका छूटी रहसि रसिक लूटी गंडन पीक परी ॥ नैनन आलस बस अधर रस पुलक प्रेमपरस जयश्री हितहरिवंश री राजत खरी ॥

सूरदास के काव्य में भी इस प्रकार के प्रसंग हैं परन्तु वे मूलत: बालकृष्ण के उपासक हैं। जहाँ उन्होंने मधुर भाव की उपासना की है, वहाँ उन्होंने विरह को ही आध्यात्मिक साधना के रूप में स्वीकार किया है, निकुंज-केलि उनकी मौलिक प्रवृत्ति नहीं रही है । इसी से उनकी साधना हित-हरिवंश की साधना को भी आत्मसात करती हुई उससे कहीं ऊँची है।

१५

दादू और हिंदी-साहित्य में उनका स्थान

१—भूमिका २—दादू का जीवन-वृत्त ३—दादू की साधना की एक रूपरेखा ४—दादू और कबीर ५—दादू का 'ब्रह्म-संप्रदाय' ६—साधक का आदर्श ७—दादू का काव्य ८—मध्ययुगीन साधना के इतिहास में दादू का महत्व ९—उपसंहार

कबीर के बाद मध्य-युग की संतधारा में दादू का काव्य और उनका व्यक्तित्व सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। पंडित सुधाकर द्विवेदी ने दादू का जन्मस्थान काशी बतलाया है और उन्हें मोची कहा है। कुछ और विद्वान उनका जन्म-स्थान गुजरात (अहमदाबाद) बतलाते हैं। दादू-पंथी उन्हें नागर ब्राह्मण मानते हैं परंतु जनगोपाल के 'जीवन-परची' जैसे प्रामाणिक ग्रंथ और तेजानंद की रचनाओं के अध्ययन-स्वरूप दादू के जीवनवृत्त के संबन्ध में हमारी मान्यता बहुत कुछ बदल रही है। इनके अनुसार दादू धुनिए थे। उनका नाम दाऊद था और उनकी पत्नी का नाम हव्वा। ग़रीबदास और मसकीन दास उनके दो पुत्र थे और नानी बाई और माताबाई दो पुत्रियाँ। उनका जीवन-काल १५४४-१६०३ ई० है। नारायण (राजस्थान) में उनकी समाधि है और यही दादू-पंथियों का सबसे बड़ा केन्द्र है।

दादू में आध्यात्मिक जीवन की जागृति किस प्रकार हुई, यह हम नहीं जानते। परंतु विद्वान कबीर के पुत्र कमाल की शिष्य-परंपरा से उनका संबन्ध जोड़ते हैं। कबीर की तरह

दादू भी हिंदू-मुसलमानों के भेदभावों को नष्ट करना चाहते थे और इस लक्ष्य को ध्यान में रखकर उन्होंने ब्रह्म-संप्रदाय की स्थापना की। उनकी वाणी हमें अक्षुण्ण रूप से प्राप्त है और उसके अध्ययन से पता लगता है कि उन पर कबीर का गहरा प्रभाव था, परंतु साधना के क्षेत्र में उनमें मौलिकता भी कम नहीं थी। दादू-वाणी दो स्रोतों से हमारे सामने आती है। एक संग्रह 'हड़ाडे वाणी' नाम से है जो दादू के शिष्य जगन्नाथ के परिश्रम का फल है परंतु दूसरा संग्रह अधिक लोकप्रिय है। इस संग्रह का नाम 'अंगबंधु' है और संग्रह-कर्ता दादू के प्रसिद्ध शिष्य रज्जब हैं। इस संग्रह में ३७ अंग हैं और २७ राग। दादू की सारी रचनाएं इन्हीं अंगों-रागों के अंतर्गत आ जाती हैं। 'काया-बेली' नाम का एक तीसरा संग्रह भी प्राप्त है परंतु उसमें साखियाँ ही हैं, पद नहीं।

दादू के अनेक शिष्य थे। इनमें रज्जब, बखना और वाजिन्द खाँ जैसे मुसलमान साधक भी थे। उनके शिष्यों के नाम हैं जगजीवन, सुन्दरदास, क्षेत्रदास, गरीबदास, जायसा, माधोदास, प्रयागदास, बनवारीदास, शंकरदास मोहन, मसकीनदास, जनगोपाल, जगन्नाथ और निश्चलदास। अधिकांश शिष्यों का क्षेत्र राजस्थान और पश्चिमी हिंदी प्रदेश तक सीमित था। इन शिष्यों की प्रचुर वाणी हमें प्राप्त है। इन साधकों ने पूर्ववर्ती और समसामायिक साधकों की वाणी के संग्रह भी किये जिनमें में कई आज अत्यंत प्रामाणिक माने जाते है जैसे रज्जब का संग्रह 'सर्वांगी' और जगन्नाथ का संग्रह 'गुणझनामा'। इन साधकों में सुन्दरदास ही ऐसे हैं जिनकी वाणी मेंसाहित्य-कला के भी दर्शन होते हैं। इनके भी कई शिष्य थे—श्यामदास, दामोदरदास, दयालदास, निर्मलदास और नारायणदास। इस शिष्य-परंपरा में जहाँ हम दादू के सिद्धांतों और उनकी

प्रेममयी वाणी का ही शतधारा विकास पाते हैं वहाँ कबीर का व्यापक प्रभाव भी उन पर दिखलाई पड़ता है। तत्त्वतः कबीर और दादू की विचारधारा में कोई बड़ा मतभेद भी नहीं है। किंवदंतियाँ दादू को कमाल की शिष्य-परंपरा से संबंधित कर इस तात्विक एकता की ही घोषणा करती हैं। इसमें संदेह नहीं कि कबीर-पंथियों की साहित्य-सामग्री में कबीर की साधना और उनके संदेश का उतना सुन्दर रूप नहीं मिलता जितना दादू और दादू-पंथियों की रचनाओं में।

जयपुर के निकट साँभर नाम के स्थान को दादू ने अपना केन्द्र बनाया और यहीं से उनकी साधना का प्रचार दूर-दूर तक हुआ। उनके लिए हिन्दू-मुसलमानों की सांप्रदायिक प्रवृत्तियाँ निरर्थक थीं। जिस सत्य का साक्षात्कार उन्होंने अपने भीतर से कर लिया था वह षट्दर्शनों का विषय नहीं था। उन्होंने यह जान लिया था कि हृदय के अतिरिक्त और सब असार था। फलतः देवी-देवताओं, तीर्थों, व्रतों, वाह्याचारों और धार्मिक संस्थाओं के प्रति उन्हें विरक्ति थी। हिन्दू-मुसलमानों के पारस्परिक वैमनस्य के लिए दादू के पास एक ही उत्तर था। उनका जीवन ही उनकी धर्मनिष्ठा का सब से बड़ा प्रमाण था। दादू के व्यक्तित्व और उनकी सात्विक प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर अनेक साधकों ने उनका नेतृत्व ग्रहण किया। दादू ने परब्रह्म संप्रदाय नाम की एक संस्था की भी स्थापना की, परंतु यह संस्था दादू की साधना का ही दूसरा रूप था। वह किसी नये मतवाद का प्रवर्तन नहीं कर रहे थे। दादू के शिष्यों ने उनके मतवाद को 'सहज' के नाम से स्मरण किया है और उनके ब्रह्म-संप्रदाय को सहज-संप्रदाय भी कह दिया जाता है। इस ब्रह्म-संप्रदाय या सहज-संप्रदाय के तत्त्व क्या थे? दादू के शब्दों में—"अहंकार का सर्वथा नाश, ईश्वर के प्रति

भक्ति-भाव, तन-मन की विकारहीनता, सब जीवों के प्रति स्नेहभाव। वस्तुतः इन तत्वों में कोई नई बात नहीं है। कबीर से बहुत पहले ही भारतीय साधना ने इन तत्वों का आविष्कार कर लिया था, परंतु कबीर ने इन तत्वों को 'सहज' साधना का नाम देकर एक व्यवस्था-प्रधान रूप दिया और उसे अवतारवाद के विरोध में उपस्थित किया। इस सहज साधना में अवतार, मूर्ति, प्रतीक, आचार-विचार कोई भी उपादेय नहीं हैं। वस्तुतः यह सार्वभौम मानवधर्म है। इसी से इस साधना में आस्था रखने वालों के लिए धर्म-भेद का प्रश्न ही नहीं आता। परंतु यह साधना पूर्णतः एकांतिक साधना भी नहीं कही जा सकती। कम से कम दादू जैसे साधक एकांत साधना में विश्वास नहीं करते थे। उनका कहना था कि परब्रह्म समुद्र है, जीव बूंद है। प्रत्येक बूंद के लिए समुद्र की पुकार सुन लेना संभव नहीं है परंतु जो सुन ले उसके लिए यह परम धर्म है कि वह इस आवाज को दूसरों तक पहुँचाये। इकेली बूँद समुद्र तक कैसे पहुँचेगी? बीच की भूमि उसे सोख लेगी। साधक को अपनी साधना को सबकी साधना बना लेना है जिससे प्रेम और तप का एक अविच्छिन्न प्रवाह उस महान सागर की ओर बह चले। फल-स्वरूप दादू के स्थान पर दूर-दूर से साधक आते और वहाँ से भक्ति, तप और त्याग का एक महान स्रोत मध्ययुग के जन-समाज की ओर प्रवाहित होता। दादू-साहित्य में इस प्रकार के साधु-समागमों का पर्याप्त उल्लेख मिलता है। इन समारोहों में हिंदू-मुसलमान साधक भेद-भाव भूलकर साधना के सामान्य मार्ग पर चलने के लिए कटिबद्ध होते थे।

कबीर की तरह दादू भी विवाहित थे। उन्होंने अपना लोक-व्यवहार बराबर बनाये रखा। कबीर की तरह वह

भी अध्यात्म साधना को सामान्य जीवन के समतल पर रखकर आगे बढ़े। दादू का कहना था कि जिसका मन बन्दी है, उसके लिए संसार बन्दीगृह है; जो मन से मुक्त है उसे कोई भी संस्था बाँध नहीं सकती। रीति-व्यवहार और संस्थायें संसार को श्रृंखलाबद्ध कर उन्हें निष्प्राण बना देती हैं। पंडितों का स्वार्थ भी इसी में है। फलतः उन्होंने भी कबीर की तरह सभी बन्धनों का विरोध किया और केवल एकमात्र प्रेम के बन्धन को माना। यह प्रेम का तत्त्व उन्हें वैष्णवों, सूफ़ियों, संतों और ब्रह्मवादियों सब में मिल गया। अतः प्रेम की भूमि पर वे सब के साथ थे। परन्तु उन्होंने प्रेम को किसी पंथ या मतवाद-विशेष में बाँधना उचित नहीं समझा। सच तो यह है कि मध्ययुग के प्रेम-भाव के सबसे सुन्दर दर्शन दादू में ही होते हैं। जहाँ विरोध का तत्व भी है, वहाँ भी दादू के नम्र और विनयी व्यक्तित्व के कारण वह आकर्षक हो गया है। कबीर जैसी अटपट, व्यंग-प्राण वाग्वाणी उनकी नहीं है। उनकी लोकप्रियता के तत्त्व दूसरे ही थे। नीचे के कुछ पदों से उनकी विशेषता का अनुमान हो सकता है—

> घीव दूध में रमि रह्या व्यापक सबही ठौर।
> दादू बकता बहुत है, मथि काढ़ै ते और॥
> यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ।
> भीतर सेवा बन्दगी बाहर काहे जाइ॥
>
> दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर।
> रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥
> केते पारखि पचि मुए कीमत कही न जाइ।
> दादू सब हैरान हैं गूंगे का गुड़ खाइ॥

जब मन लागो राम सौं तब अनत काहे को जाइ ।
दादू पाणीं लूण ज्यों ऐसे रहे समाइ ॥

अपने प्रेम-पंथ की व्याख्या करते हुए दादू कहते हैं—

भाई रे, ऐसा पंथ हमारा ।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अवरन एक अधारा ।
बाद बिबाद काहु सौं नाहीं मै हूँ जग में न्यारा ।
समदृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप बिचारा ।
मैं, तैं, मेरी यह गति नाहीं निरवैरी निरविकारा ।
काम कल्पना कहे न कीजे पूरा ब्रह्म पियारा ।
एहि पथ पहुँच पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा ।

यह स्पष्ट है कि दादू के इस जीवन-दर्शन पर उनके अपने प्रेममय व्यक्तित्व की पूरी छाप है। यह व्यक्तित्व सब के साथ चलना, सब समेट कर चलना स्वीकार करता है किसी से भी इसका विरोध संभव नहीं है।

मध्ययुगीन साधना के इतिहास में दादू का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। कदाचित् कबीर से कुछ ही कम। कबीर स्वतंत्र-चेत्ता थे। जहाँ तक ऐतिहासिक अनुशीलन से पता चलता है उन्होंने किसी संप्रदाय का संगठन नहीं किया। कबीर-पंथ बहुत बाद की चीज़ है और कदाचित् कबीर के किसी अपने शिष्य से उसका संबंध नहीं है। उसके प्रवर्तक धर्मदास कहे जाते हैं और कबीर से उनका संबन्ध जोड़ा जाता है, परन्तु धर्मदास की ऐतिहासिक सत्ता उनकी साम्प्रयिक सत्ता से बहुत भिन्न जान पड़ती है। कबीर के मतवाद का सबसे सुन्दर प्रकाशन दादूवाणी में ही मिलता है और यदि वह सचमुच कमाल की शिष्य-परंपरा से संबन्धित हैं तो

कबीर की साधना और विचारधारा उन्हीं के सम्प्रदाय में विकसित हुई है। वह निश्चय रूप से एक महान आन्दोलन के जन्मदाता हैं जिसका प्रभाव १६ वीं शताब्दी तक बना रहा है। रज्जब, बुल्ला साहब, गुलाल, बखना, यारी साहब और बुल्लेशाह जैसे सूफ़ी साधक उन्हीं की शिष्य-परंपरा में आते हैं और उन्हीं की वाणी और साधना का शतशः प्रसार जान पड़ते हैं।

जो हो, यह निश्चित है कि हिंदी के संत काव्य में दादू शीर्ष-स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। कबीर के तेज ने उनकी महत्ता को बहुत कुछ दबा दिया है, परन्तु साधना का जो रूप दादू में मिलता है, व्यक्तित्व का जैसा माधुर्य उनमें है, वह कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह क्षोभ का विषय है कि हम अपने साधकों के प्रति पूर्ण रूप से जागरूक नहीं हैं। हमने उनकी जीवनव्यापी साधना को पुस्तकों में बंदी करके ही अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ ली है। राष्ट्र के नैतिक और आध्यात्मिक जीवन को उनकी देन कितनी महत्वपूर्ण हो सकती है, अभी हम इसकी कल्पना भी नहीं कर सके हैं। परन्तु जब भी कभी हम अपनी महती साधना-परंपराओं के अंतरतम में प्रवेश करेंगे, तभी हमें दादू जैसे महान् साधकों की अंतःस्फूर्ति से प्रभावित होना पड़ेगा।

१६

उपनिषद्-दर्शन

१—प्रधान उपनिषद् २—औपनैषदिक चिन्ता का मूल रूप ३—इस चिंताधारा के जन्म और विकास का इतिहास ४—ऋग्वेद और उपनिषद् ५—उपनिषदों की साधना और विचारधारा पर द्रविड़ प्रभाव ६—कर्मवाद और पुनर्जन्मवाद ७—ब्रह्म की विरोधी-धर्माश्रयता और उसकी रहस्यमयता ८—आत्म ज्ञान के कुछ साधन ९—आत्मस्थ साधक की ब्रह्मानुभूति १०—उपसंहार ।

वैसे उपनिषदों की संख्या बहुत बड़ी है, परंतु मुख्य उपनिषद १२ हैं। इनके नाम हैं—ईशावासोपनिषद, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, श्वेताश्वेतर, छांदोग्य, वृहदारण्यक और कौशीतिकी। 'उपनिषद्' का अर्थ है 'पास बैठ कर प्राप्त किया ज्ञान' अर्थात गुह्य ज्ञान। वह साधारण ज्ञान से भिन्न है। साधारण ज्ञान मनुष्य को 'प्रेय' की प्राप्ति कराता है, परंतु इस गुह्य ज्ञान से 'श्रेय' की प्राप्ति होती है जो सच्ची प्राप्ति है। यहाँ श्रेय से अध्यात्म-ज्ञान का बोध है। यह कहना कठिन है कि इन प्रमुख उपनिषदों का काल-क्रम क्या है, परंतु यह निश्चित है कि बुद्ध के समय तक इन सब उपनिषदों की रचना हो चुकी थी। विद्वानों का अनुमान है कि उपनिषदों की विचारधारा का पूर्ण रूप ७०० पू० ई० के लगभग स्थिर हो चुका था। परिमाण की दृष्टि से ईशोपनिषद सबसे छोटा है और श्वेताश्वेतर और वृहदारण्यक सब से बड़े हैं। ईश में श्लोकों की संख्या

केवल अठारह हैं। कदाचित् संसार के किसी भी धर्मग्रंथ में इतनी महत्वपूर्ण धर्मचिंता इतने कम शब्दों में उपस्थित नहीं की गई है।

विचारधारा की दृष्टि से देखें तो इन सब उपनिषदों में विषय, विवेचना, शैली और मंतव्य में थोड़ा अंतर है, परंतु फिर भी इनकी विचारधारा की एक सामान्य रूपरेखा स्थापित की जा सकती है और उसे 'औपनैषदिक चिंता' का नाम दिया जा सकती है। इस दृष्टि से देखें तो उपनिषद् कर्मवाद, पुनर्जन्म, जीवब्रह्मैक्य और तज्जन्य आनंद के संबन्ध में विचार उपस्थित करते हैं। श्वेताश्वेतर उपनिषद् और अन्य उपनिषदों में योग-संबन्धी विचारधारा भी मिल जाती है, परंतु वह ब्रह्मचिंतन की पृष्ठभूमि में आती है, उसका स्थान नहीं लेती।

औपनैषदिक चिंता के संबंध में दो विचारधाराएँ चल रही हैं। एक वर्ग उसे ऋग्वेद की अध्यात्म चिंता का विकास मानता हैं और दूसरा उसे अनार्यों की धर्म-चिंता से संबंधित करता है। परन्तु आर्यों की सबसे पहली रचना ऋग्वेद में भारतीय भक्तिवाद, तपस्, और दर्शन-चिंता के संबंध में बहुत कम सामग्री मिलती हैं। आर्यों के लिये आध्यात्मिक जीवन महत्वपूर्ण नहीं था। वे अंतःस्रोतों से परिचित नहीं जान पड़ते। ऋग्वेद में जो है उसे अधिक से अधिक जिज्ञासा का नाम दिया जा सकता है, उसे दार्शनिक मतवाद नहीं कहा जा सकना। ऋग्वेद में इंद्र, सूर्य, वरुण, विष्णु, वृहस्पति आदि प्रमुख देवताओं के रूप में आते हैं और इनके प्रति एक प्रकार की उदात्त, विस्मय भाव-प्रधान भक्ति-भावना भी मिलती है। एक प्रकार का बहुदेवतवाद वहाँ मिलता है। धीरे-धीरे

इंद्र भी भुला दिये गये और भक्ति के एकमात्र विषय विष्णु रह गये। पौराणिक काल तक वैष्णव भक्ति का आरम्भ हो चुका था और द्राविड़ी भक्ति से उसका संबंध भी स्थापित हो गया था।

यह स्पष्ट है कि वैदिक आर्य तापस जीवन के विरोधी थे। भारतीय आधयात्मिक परंपरा में तप का बड़ा महत्व-पूर्ण स्थान है, परंतु ऋग्वेद में उसके दर्शन भी नहीं होते। वैदिक भक्ति का दृष्टिकोण मुख्यतः एहलौकिक और कर्मकांडी है। केवल ऋग्वेद के १० वें मंडल में द्वैतवाद का खंडन है। बहुदेवों को केवल माया (भ्रम) कहा गया है और केवल एक देवता—एक सृष्टिकर्ता—की बात उठाई गई है और उसे प्रजापति का नाम दिया गया है। विद्वानों का अनुमान है कि ऋग्वेद के पहले और दसवें मंडल पर द्रविड़ सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव है। कट और श्वेताश्वेतर में जिस रहस्य-चिंतन, जीव-ब्रह्मैक्य और अंड में पिंड की साधना की बात कही गई है, उसका मूल उत्स भारत के मूल निवासियों की अधयात्म-साधना में रहा होगा। भारतीय साधना के लिए ये तत्व नए नहीं थे, परन्तु आर्यों ने इन मूलतः द्रविड़ तत्वों को नई परिभाषा दी, नई वाणी दी और ये सिक्के उसकी छाप पाकर चल पड़े।

औपनैषदिक विचारधारा ने ब्राह्मणों के कर्मकांड के विरोध-स्वरूप जन्म लिया था। इसी से उसका संबंध पुरोहितों से नहीं, अरण्यों में रहने वाले ऋषियों और राजाओं से है। राजाओं को यह ज्ञान कहाँ से उपलब्ध हुआ? कदाचित् पुरोहितों के प्रभाव को अनिष्टकारी समझ कर उनसे मुक्त होने के लिये क्षत्रियों ने उनके कर्मकाण्ड का विरोध किया,

और द्रविड़ों में प्रचलित तत्त्वज्ञान का आर्य संस्करण आर्यों में प्रचारित किया। जिस तत्त्व के लिए द्रविड़ों में 'प्राण' शब्द का प्रयोग होता था उसके लिए इन राजर्षियों ने पहले आत्मन् और फिर ब्रह्म शब्द का आविष्कार किया। उन्होंने कहा कि आत्मा 'सत्यस्य सत्यम्' है। वह ग्रहण-त्याग और प्राप्ति-नाश के परे है। आत्मा का अस्तित्व अनादि काल से है। सृष्टि का आरंभ उसी से होता है। प्रलय में केवल आत्मन् के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह जाता। यही आत्मा सृष्टि की उत्पत्ति का कारण है। वह नित्य और अमर है। वह इंद्रियों से विभिन्न और परे है। उसे अवसाद नहीं। वह चिरंतन है। आत्मा व्यक्ति-निरपेक्ष है और वह स्वयं में पूर्ण है। सृष्टि का प्रत्येक प्राणी आत्मा से ओतप्रोत है। परंतु वह स्वयं प्राणियों और पदार्थों के तत्त्वों से भिन्न है। आत्मा ही ईश्वर है और इसीलिए वह उपासना और श्रद्धा का विषय है। बाद के इतिहास में 'आत्मन्' के लिए बराबर ब्रह्म शब्द का प्रयोग हुआ है। कदाचित् क्षत्रियों ने आत्मा शब्द का ही प्रयोग किया। परन्तु ब्राह्मणों ने 'ब्रह्म' शब्द को चलाया। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पहली बार ये दोनों शब्द समानार्थक रूप में मिलते हैं। छांदोग्य में स्पष्ट लिखा है कि आत्मा 'ब्रह्मण' है और अमर है।

उपनिषदों में ही पहली बार तपस् और ब्रह्मचिंता का संबंध जोड़ा गया है। तपस् और ब्रह्मचिंता कर्मबन्धन और आवागमन से मुक्ति के दो अलग-अलग साधन माने जाते रहे परन्तु उपनिषद के द्रष्टाओं ने उन्हें एक सूत्र में ग्रथित कर दिया।

भारतीय दार्शनिक मतवाद में 'कर्म' का सिद्धांत अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मानव के जीवन-मरण-संबंधी चिंतन से

कर्म के सिद्धांत का बहुत निकट का संबंध है। जान पड़ता है कि यह सिद्धांत भी द्रविड़ मतवाद से प्रभावित है। इसीलिए इसे रहस्यज्ञान के अंतर्गत रखा गया है। वृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य अर्थभाग को इस नये सिद्धांत की शिक्षा देते हैं तो वह बड़े सतर्क दिखलाई देते हैं। वास्तव में कर्मवाद के सिद्धांत का जन्म आत्मवाद से ही होता है। दोनों ही अनार्य हैं। इसी से आत्मवाद की तरह कर्मवाद भी गुह्य है। कर्मफल के अनुसार ही मनुष्य का जन्म होता है। वस्तुतः यह बहुत क्रांतिकारी सिद्धांत रहा होगा। इस कर्मफल से मुक्ति पाने का केवल एक साधन है—आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान। मुण्डक उपनिषद् में स्पष्ट ही लिखा है—यो ह वैः तत परम ब्रह्म वेद ब्रह्म भवति (जो ब्रह्म को जानता है वह स्वयं ब्रह्म बन जाता है।)

आवागमन का सिद्धांत भी कर्मवाद का फल है। प्रारम्भिक दार्शनिक विचारधारा में नरक की कल्पना भी नहीं है। नरक और स्वर्ग की कल्पना का पुनर्जन्म की कल्पना से गहरा संबंध है। जिनके संचित कर्म नष्ट नहीं हुए हैं, उन्हें पुर्नजन्म प्राप्त करना होता है। संचित कर्म नष्ट होने पर ही उन्हें स्वर्ग की प्राप्ति होती है। वेद में पुनर्जन्म का उल्लेख नहीं मिलता। परन्तु उपनिषदों में जीवन-मृत्यु की समस्या पर विचार करते हुए पुर्नजन्म का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। छांदोग्य में राजा प्रवाहण जैवालि श्वेतकेतु से प्रश्न करता है :—

१—मृत्यु के बाद जीव कहाँ जाता है ?

२—जीव फिर कैसे पृथ्वी पर लौटता है ?

३—दो मार्ग कौन से हैं—एक देवताओं का, एक मनुष्यों (मृतात्माओं) का।

४—परलोक भर क्यों नहीं जाता (५, ३,१०)। यह स्मरण रखना चाहिये कि आत्मा का सिद्धांत भी इसी प्रवाहण जैवालि ने उपस्थित किया था। उपनिषदों में आत्मा के दो पथों (चंद्रमार्ग-सूर्यमार्ग) का विस्तृत वर्णन है। यह स्पष्ट है कि आवागमन मूलतः दंड-विधान है। यही दुःख और भय का मूल कारण है। केवल एक ही मनुष्य आवगमन के चक्र को भेद सकता है—वह जो आत्मा को जानता है।

परन्तु आत्मा को जाना कैसे जाये ?—उपनिषदों में इस विषय में कोई मतभेद नहीं है कि आत्मा के सत्य को जानने से बड़ा लक्ष्य कोई है ही नहीं। आत्मा को जानने की यह पहली सीढ़ी है परन्तु उस तक पहुँचने के लिए यह आवश्यक है कि साधक प्रार्थना-भाव से भर जाये। 'तमसोमा ज्योतिर्गमयः'—यह साधक की प्रार्थना होगी। इसका कारण यह है कि ब्रह्म-ज्ञान केवल मनुष्य की साधना से प्राप्त नहीं होगा। वह ईश्वरा-नुकंपा से प्राप्त होगा। 'ब्रह्म जिसे चाहता है उसे अपना ज्ञान देता है।'—वस्तुतः इस छोटे से वाक्य में सारे औपनैषदिक दर्शन का सार आ जाता है।

फिर भी जीव (मनुष्य) के लिए कुछ साधना उपादेय है। वास्तव में ये कुछ मानसिक स्तर हैं जिनके द्वारा मनुष्य क्रमशः ईश्वरानुभव के निकट पहुँचता है :

(१) धन-ऐश्वर्य इत्यादि के मोह का त्याग। मैत्रायन उपनिषद् में राजत्यागी वृहद्रथ की कथा में इसी का संकेत है।

(२) आत्मा का ज्ञान। आत्म-ज्ञान है सर्वभूतों में अपनी ही आत्मा का प्रसार जानना। कठ, छांदोग्य और वृहदारण्यक के अनेक प्रसंग इस ओर इंगित करते हैं।

(३) संयम (ब्रह्मचर्य)—बृहदारण्यक और प्रश्न-उपनिषद् में ब्रह्मचर्य को ब्रह्मज्ञान का सर्वोत्तम साधन कहा गया है।

(४) विनम्रता—छांदोग्य के अनुसार साधक को अपना सारा पूर्व ज्ञान और अहंकार भुला कर बालक जैसा बन जाना है।

(५) ध्यान। उपनिषद् कहता है—'आतमवन् आत्मना पश्य'। मैत्री, बृहदारण्यक और छांदोग्य में ध्यान की महिमा गाई गई है।

(६) जप, दान, आर्जनम्, अहिंसा और सत्य वचन का पालन। साधक का संसार के प्रति दृष्टिकोण ही बदल जाना चाहिये—इसीलिए उपरोक्त साधन हैं। शतपथ ब्राह्मण और छांदोग्य में इन साधनों की विस्तृत व्याख्या मिलेगी। शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि प्रजापति ने तप-द्वारा सृष्टि की स्थापना की। वास्तव में यह कर्मकांडी विचारधारा से अलग एक विचार-धारा है। कर्मकांडी विचारधारा में यज्ञ-याज्ञादि ही श्रेयस हैं, परन्तु तप के द्वारा आत्मशुद्धि भी होती है। अतः यह आत्म-साधन का सबसे प्रमुख अंग है।

(७) योग। उपनिषदों में योग के संबंध में अनेक विचार मिलते हैं। कठ और श्वेताश्वेतर में इस विचारधारा का विस्तृत रूप उपस्थित है। कठोपनिषद् में कहा है कि साधना का सर्वोत्तम लक्ष्य वह है जब मनुष्य की आत्मा पूर्णतयः शांत हो जाती है, जब पाँचों इंद्रियाँ अपने कर्मों में पूर्ण रूप से स्थापित हो जाती हैं, जब बुद्धि समाधि में स्थित हो जाती है। अंत में जिस अवस्था की प्राप्ति होती है, वह 'योग' कहलाती है। जब

तक योग की अवस्था रहती है, तब तक साधक को पूर्ण रूप जागरूक होना पड़ता है। उसके भीतर आविर्भाव और तिरोभाव के चक्र चलते रहते हैं।

संक्षेप में, यह उपनिषदों की विचारधारा की रूप-रेखा है। बाह्याडंबरों और कर्मकांडों का विरोध और मनः-शुद्धि द्वारा जीव-ब्रह्मैक्य (अहं ब्रह्म) की अनुभूति की प्राप्ति इस विचारधारा का केन्द्र है। श्वेताश्वेतर जैसे उपनिषदों से प्रगट है कि उपनिषद् के ऋषि बाहर से हट कर भीतर मन की ओर जाते हैं और और आत्मस्थ होकर शांति लाभ करते हैं। आत्म-शुद्धि के साथ योग-संबंधी विचारधारा का समावेश भी हो गया है। परंतु अद्वैतानुभव के संबंध में समस्त उपनिषद् एक ही प्रकार से विश्वस्त हैं। ईशोपनिषद् कदाचित् सबसे प्राचीन उपनिषद् है। इसके पहले श्लोक में ही औपनैषदिक विचारधारा का सार आ जाता है—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंचित् जगयम् जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथः मा गृधः कस्य स्विद धनम्॥

'अखिल ब्रह्माण्ड में जो कुछ भी जड़-चेतन-स्वरूप है, वह समस्त ईश्वर से ओतप्रोत है। उस ईश्वर को सदैव समकक्ष रखते हुए आसक्ति-रहित हो (त्याग-पूर्वक) भोग करो। यह समझ लो कि भोग्य पदार्थ (धन अथवा ऐश्वर्य) किसी का भी नहीं है।' इस श्लोक में मानव-जीवन के लिए एक संपूर्ण संदेश सन्निहित है। मनुष्य इस सारे जड़-चेतन-स्वरूप दृश्यमान जगत् को ईश्वर से ओतप्रोत माने। यह जानते हुए भी उसे छोड़ कर भागे नहीं। ईश्वर के समक्ष प्रतिक्षण रहते हुए भी आसक्तिहीन (निष्काम) भाव से कर्म करे। समस्त सुखों को भोगे। शत वर्ष आयु की कामना करे। यज्ञार्थ (ईश्वरार्थ)

कर्म करने से वह कर्म में लिप्त न होगा। इस तरह वह कर्म-बंधन से मुक्त हो जायेगा।

ब्रह्मज्ञान ही एकमात्र ज्ञान है, विद्या है, शेष अविद्या। 'तत्वमसि' की अनुभूति होने पर मनुष्य अमृत का अनुभव करता है। ब्रह्म की अलौकिकता और विरोधी धर्माश्रयता को जान कर मनुष्य संशय से ऊपर उठ जायेगा। वह सब भूतों में अपनी आत्मा का प्रसाद देखेगा। वह राग-द्वेष से परे होगा। अन्य देवों को छोड़ कर वह इसी ब्रह्मभाव की अनुभूति को सत्य मानेगा।

परंतु यह अनुभूति केवल साधना का विषय नहीं है। इसके लिए ब्रह्म से प्रार्थी होना पड़ेगा। सत्य है 'सोहमस्ति'। परन्तु सत्य के इस तेज को स्वयं ब्रह्म के तेजोमय नानात्व ने ढक लिया है। ब्रह्म की अनुकंपा से ही यह नानात्व-भाव दूर होगा और एकत्व की अनुभूति होगी। देह को भस्मांत और प्राण को अमृतम् (अविनाशी) मान कर, ब्रह्म-स्वरूप मान कर, ब्रह्ममय बनकर ही साधक (कर्म और आवा-गमन के) बंधनों को तोड़ सकता है। आत्मस्थ साधक की आनंदानुभूति का वर्णन तैत्तिरीय उपनिषद में इस प्रकार है : हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु। अहमन्ना अहमन्नम् अहमन्नम। अहमन्नादो ३ ऽ हमन्नादो ३ ऽ हमन्नादः। अहं श्लोककृदहं श्लोककृदहं श्लोककृत्। अहमस्मि प्रथमजा ऋता ३ सय। पूर्वंदेवेभ्यो ऽ मृतस्य ना ३ भामि। यो मा ददाति स इदेष या ३ वाः। अहमन्नयन्न मदंत या ३ कि। अहं विश्व भुवनमभ्यनवा ३ म्। सुवर्ण ज्योतिष्ठ। य एवं वेद। इत्युपनिषत्'—आश्चर्य! आश्चर्य! आश्चर्य। मैं अन्न हूँ ३। मैं अन्न का भोक्ता हूँ ३। मैं इसका

संयोग कराने वाला हूँ ३। मैं सत्य जगत् में सब से प्रधान होकर उत्पन्न होने वाला, देवताओं से भी पहले विद्यमान, अमृत्व का केन्द्र हूँ। जो कोई मुझे देता है, वह इस कर्म से ही मेरी रक्षा करता है। मैं अन्न-स्वरूप होकर अन्न खाने वाले को निगल जाता हूँ। मैं समस्त भुवन का तिरस्कार करता हूँ। मेरे प्रकाश की एक झलक सूर्य के समान है।

१७

आधुनिक शिक्षा-पद्धति

१—आधुनिक शिक्षा-पद्धति का इतिहास २—नई शिक्षा-पद्धति के पीछे छिपी हमारे विदेशी शासकों की मनोवृत्ति ३—आधुनिक शिक्षा-पद्धति के दोष ४—आधुनिक शिक्षा का अप्राकृतिक और अस्वस्थकर विकास ५—नई राष्ट्रीय शिक्षा की आवश्यकता और उसकी रूपरेखा ६—किताबी शिक्षा का युग गया।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति का जन्म उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हुआ है। सब से पहले मेकाले ने यह प्रस्ताव किया कि भारतीयों को अँगरेजी भाषा के माध्यम द्वारा शिक्षा दी जावे। यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ और थोड़े ही दिनों बाद व्यावहारिक रूप में जनता के सामने आ गया। मुख्य-मुख्य राजनैतिक और व्यापारिक केन्द्रों में विश्व-विद्यालयों और कालिजों की स्थापना हुई और इसके लिए अच्छे-अच्छे शिक्षकों को तैयार करने की व्यवस्था की गई। इस तरह से ऐसी शिक्षा-पद्धति की नींव पड़ी जिसके द्वारा ऐसे शिक्षित आदमी तैयार किये जाते थे, जो विदेशी सरकार की मशीन में कल-पुर्जों की जगह काम कर सकें। इस शिक्षित समुदाय द्वारा विदेशी महाजनों के साथ-साथ नौकरशाही सत्ता की स्थापना हुई।

मेकाले के समय की शिक्षा विशेषज्ञों का यह उद्देश्य नहीं था कि पांडित्य और गहरे अध्ययन के लिए किसी प्रकार की संस्थाओं की की व्यवस्था उस समय के विद्यार्थी अरबी-फ़ारसी और सस्कृत की शिक्षा को ही शिक्षा समझते थे, इसलिए नवीन शिक्षा-पद्धति में

देशी भाषाओं के अध्ययन-अध्यापन का कोई प्रश्न न था। ऐसी परिस्थिति में देशी भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने का प्रश्न तो हो ही नहीं सकता था।

जिस नई शिक्षा-पद्धति का आविष्कार हुआ उसमें दो बड़ी हानियाँ थीं। पहली बात तो यह थी कि वह स्वदेशी नहीं थी। यह बात नहीं कि उसमें विदेशी शिक्षा-पद्धति का कोई अंश मात्र हो, उसका सारा आधार पश्चिमी शिक्षा-पद्धति थी। यूरोप की शिक्षा-पद्धति को भारतीय जलवायु में पनपने का कोई कारण नहीं था। और इसीलिए यह असफल रही। संसार के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों को उस समय तक ठहरा रहना पड़ता जब तक वे विदेशी भाषा नहीं सीख लेते। दूसरी बड़ी हानि यह थी कि नवीन शिक्षा-पद्धति आरम्भ से ही विदेशी सरकार के रथ में जुड़ गई और, सही हो या ग़लत, अंततः सरकारी नौकरी ढूँढ़ने का सहारा बन गई।

यदि अँगरेज़ शिक्षा-विशेषज्ञों ने यह सोचा था कि वे नवीन शिक्षा-पद्धति के द्वारा ऐसे वर्ग को जन्म देंगे जो जनता को उनकी भाषा और संस्कृत में दीक्षित करेगा तो यह ग़लत सिद्ध हुआ। भारत जैसे विशाल देश की जनता के ऊपर विदेशी भाषा और सभ्यता लादने में शताब्दियाँ लग जातीं। विशेष कर ऐसी परिस्थिति में जब उस जनता की अपनी भाषा और सभ्यता थी, जो विदेशियों की भाषा और सभ्यता से किसी तरह कम नहीं थी। हाँ, इस नवीन शिक्षा की आयोजना ने शिक्षित भारतीयों या बाबुओं का एक ऐसा दल खड़ा कर दिया जो न देशी है और न विदेशी। फलतः साधारण जनता और शिक्षित वर्ग के बीच में एक गहरी खाई पड़ गई और

अनेक प्रकार की सामाजिक और राजनैतिक उलझनें पैदा हो गईं।

पिछले एक सौ वर्षों से हमारे देश में वह शिक्षा-पद्धति चल रही है जिसे हम आधुनिक शिक्षा-पद्धति कहते हैं। हमारे समाज के मध्यवर्ग ने इसे धन, ऐश्वर्य, अधिकार और यश प्राप्त करने का कल्पतरु बना लिया है। आरम्भ में प्रत्येक शिक्षित मनुष्य के लिए कोई न कोई सरकारी जगह तैयार थी, परन्तु धीरे धीरे यह सत्त्व जाता रहा। आज परिस्थिति यह है कि सारे सरकारी महकमे बन्द हैं और शिक्षित बेकारों के लिए अधिकारी वर्ग और अर्ध-सरकारी संस्थायें मौन हैं। हमारे समय की बेकारी की समस्या का आधुनिक शिक्षा-पद्धति से बहुत गहरा और सीधा सम्बन्ध है।

आधुनिक शिक्षा-पद्धति प्रतिभावान, तीव्र-बुद्धि और कर्मठ मनुष्यों को जन्म नहीं देती। वह व्यावहारिक ज्ञान को छोड़ कर सैद्धान्तिक ज्ञान पर अधिक बल देती है। परीक्षा पास करना ही ज्ञान प्राप्त करने का चिह्न समझा जाता है। यह पद्धति परीक्षाओं के ऊपर ही विकसित हुई है और अब एक बड़ी फ़ैक्ट्री की तरह काम करती है। हज़ारों-हज़ारों विद्यार्थी ऐसी परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर बाहर निकलते हैं जिनसे विद्यार्थी की मानसिक शक्तियों की कोई जाँच नहीं होती। इसका फल यह है कि विद्यार्थी स्मरण-शक्ति पर अधिक बल देते हैं और पाठ को कंठ कर लेना ही अध्ययन समझा जाता है।

शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी होने से उच्च शिक्षाओं में बहुत बाधा पड़ती है। विद्यार्थी किसी भी बड़े विचार को अच्छी

तरह ग्रहण नहीं कर सकता जब तक वह ऐसी भाषा में न हो जिससे वह भली भाँति परिचित हो। यही कारण है कि हमारे विद्यार्थी मौलिक गवेषणा का काम बहुत बाद में करते हैं और इस प्रकार का काम बहुत आगे नहीं बढ़ पाता। विदेशी भाषा के द्वारा अध्ययन-अध्यापन में वह उत्साह नहीं हो सकता जो देशी भाषा के द्वारा। अध्ययन-अध्यापन भी मौलिकता-शून्य, रूढ़ और अप्रगतिशील है।

आधुनिक शिक्षा में एक दूसरा दोष यह भी है कि वह मनुष्य को जीवन के संघर्ष के लिए तैयार नहीं करती। हमारे चारों ओर की परिस्थिति इतनी विषम है कि हम व्यावहारिक शिक्षा-प्राप्ति के बिना और विशेषज्ञ बने बिना रोटी नहीं पा सकते। सामान्य शिक्षा द्वारा संसार भर का ज्ञान पाकर भी हमें नौकरी के लिए बैठा रहना पड़ता है और हम स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं कर सकते। यदि उच्च कक्षाओं में सामान्य ज्ञान-विज्ञान के साथ किसी विशेष कला-कौशल की शिक्षा दी जाय तो बेकारी की समस्या हल हो सकती है। आज की परिस्थिति यह है कि शिक्षित समाज कला-कौशल को हीन समझता है। उसमें अपने ज्ञान के प्रति झूठी प्रतिष्ठा होती है। यदि सामान्य शिक्षा के साथ कला-कौशल की भी शिक्षा दी जाये तो इस प्रकार की धाँधली दूर हो सकती है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली ने चाहे जो कुछ किया हो, उसमें जातीय शिक्षा को कोई स्थान नहीं मिला। उसने व्यक्तियों का निर्माण अवश्य किया परन्तु वह जनता की वस्तु नहीं हो सकी। प्रत्येक देश में उच्च शिक्षा में उस देश के प्राचीन रूढ़ि-गत आचार-विचार, जातीय भावनाएँ और विश्वास और सामयिक जीवन की झाँकी मिलती है। हमारे देश में इसके

विपरीत है। हमारी उच्च शिक्षा की जड़ें अपने देश की भूमि में बहुत गहरी नहीं उतरी हैं, वह विदेशी शिक्षा-वृक्ष पर अमर-बेलि के समान फैली हुई है। इसके अतिरिक्त हमारी शिक्षा का विकास ठीक-ठीक नहीं हुआ। वह न सरकारी संस्था है और न जनता की संस्था है। सरकार, शिक्षित वर्ग और विदेशी पादरियों में इसका जन्म और विकास हुआ। देश की संस्कृति को साधारण जनता तक पहुँचाना उसका उद्योग नहीं रहा।

और भी कितनी ही बातें हैं जिन्होंने हमारी शिक्षा-पद्धति को अत्यन्त निर्बल बना दिया। हमारा कुटुम्ब और हमारा समाज जीवित, जाग्रत और अनुप्राणित संस्थाएँ हैं। अन्य संस्थाओं से उनका सम्बन्ध है। अपनी शिक्षा-संस्था के सम्बन्ध में हम यह नहीं कह सकते। हमारे जीवन में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है। उसे हमारा हृदय-स्पन्दन समझिए। हमारी शिक्षा-पद्धति में इसका कोई स्थान नहीं। हमारे देश में इतनी धार्मिक धाराएँ हैं और धार्मिक आचार-विचार एवं चिन्तन की इतनी लम्बी परं-परा है कि यदि अधिकारी चाहते तो धर्म के वैज्ञानिक और तुलनात्मक अध्ययन के लिए उन्हें अच्छा क्षेत्र मिलता, परन्तु इस तरह की संभावना उन्हें सूझी ही नहीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हमारी आधुनिक शिक्षा का विकास अप्राकृतिक और अस्वस्थ वातावरण में हुआ। उसका समुचित विकास तब होता जब उसका जन्म साधारण जनता के लिए होता और वह उनके आचार-विचारों को पुष्ट एवं संस्कृत करती। विदेशी भाषा के माध्यम ने शिक्षा का जनता से कुछ भी सम्बन्ध न रहने दिया। इसके अतिरिक्त वह एक विदेशी राज्य की जड़ों को मजबूत करने के निमित्त कारण बनी। फल यह हुआ कि शिक्षित वर्ग जन-समाज से दूर जा पड़ा।

हमारे जातीय जीवन के लिए यह एक महान दुर्घटना थी। राष्ट्रीय आन्दोलन की सफलता के बाद आज जब हम स्वतंत्र हैं तो हमें इस महान व्यवधान को दूर करना होगा। नगर के शिक्षित वर्ग और अशिक्षित कर्मकर और देहात के किसान के बीच में एक बहुत बड़ी खाई खुद गई है। तीनों के स्वार्थ भिन्न हैं और तीनों अपने स्वार्थों की सिद्धि में लगे हैं। इसीलिए कवि ने कहा है :—

यहाँ नहीं है चहल-पहल वैभव विस्मित जीवन की,
यहाँ डोलती वायु म्लान सौरभ मर्मर ले वन की।
आता मौन प्रभात अकेला, संध्या भरी उदासी,
यहाँ घूमती दोपहरी में स्वप्नों की छाया-सी।
यहाँ नहीं विद्युत दीपों का दिवस निशा में निर्मित,
अँधियाली में रहती गहरी अँधियाली भय-कल्पित।
यहाँ खर्व नर (बानर ?) रहते युग-युग से अभिशापित,
अन्न वस्त्र पीड़ित असंभ्य, निर्बुद्धि, पंक में पालित।
यह तो मानव-लोक नहीं रे, यह है नरक अपरिचित,
यह भारत का ग्राम,—सभ्यता, संस्कृति से निर्वासित।
झाड़-फूँस के विवर,—यही क्या जीवन-शिल्पी के घर ?
कीड़ों से रेंगते कौन ये ? बुद्धिप्राण नारी-नर ?
अकथनीय क्षुद्रता, विवशता भरी यहाँ के जग में,
गृह-गृह में कलह, खेत में कलह, कलह है मग में।

इस वस्तु-स्थिति को हमें दूर करना है। यह परिस्थिति बहुत दिनों तक नहीं रह सकती। नगर-ग्राम पास आयें, शिक्षित और अशिक्षितों के बीच की खाई पटे, तभी देश का कल्याण है। जो शिक्षा हमें इस दिशा की ओर बढ़ाती है वही सद्-शिक्षा है। हमारी शिक्षा में हमारी संस्कृति की झलक रहनी चाहिये,

हमारी भाषा और हमारे साहित्य, हमारे जातीय और राष्ट्रीय जीवन एवं हमारी संस्थाओं का इतिहास हमें वह दे, संसार भी गतिविधि से हमें परिचित कराये, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के लिये हमें तैयार करे, हमारे विद्यालय चहार-दीवारी के भीतर बंद जेलें न हों। उनमें राष्ट्रीय जीवन का पूर्ण प्रतिबिंब हों। वह राष्ट्र के मंदिर हों। विद्यार्थी उनमें ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा तो प्राप्त ही करे परंतु वह कला-कौशल भी अनिवार्यतः सीखे और जनजीवन की विशेषताओं से परिचय प्राप्त करे। खेल-कूद तो हो ही, परंतु बाग़बानी और खेती का भी प्रबंध हो। बिजली द्वारा चलने वाले छोटे-मोटे उद्योग-धंधों का भी शिक्षण हों। प्रत्येक विद्यालय स्वावलंबी हो। उसमें उद्योग-धंधों, बाग़ों, खेतों और कला-संस्थाओं से जो उपज हो, वह राष्ट्र के नागरिकों के घरों में शोभा दे। विद्यालयों की सारी शिक्षा निःशुक्ल हो और उनकी अपनी स्वतंत्र इकाई हो। उनमें पढ़ कर बाहर निकले तरुण स्वप्नजीवी नहीं बनें जो देवदास बन कर ही अपने जीवन को सार्थक समझें। वह भावी पीढ़ियों के नेता हों। उनके श्रम से पृथ्वी उर्वर हो और उनके कला-कौशल के प्रसाद से यह देश एक बार फिर भू-स्वर्ग बन जाये। ऐसी शिक्षा हमें चाहिये। किताबी शिक्षा का युग अब चला गया। अब शिक्षा को विराट् भू के जीवन से संबंधित होना होगा।

१८

वर्धा-शिक्षा-योजना

१—नई शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता २—पृष्ठभूमि ३—वर्धा शिक्षा-योजना का इतिहास ४—प्रारंभिक प्रयोग ५—वर्द्धा शिक्षा का आधुनिक रूप ६—गांधी जी की कल्पना और अहिंसक समाज का निर्माण।

जैसे-जैसे हमारे देश में जातीय चेतना का विकास होता गया है वैसे-वैसे हमारे नेताओं ने एक ऐसी शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता का अनुभव किया है जिसमें पश्चिमी शिक्षा-पद्धति की विशेषता के साथ-साथ भारतीय आदर्शों का भी समन्वय हो। ऐसी शिक्षा-पद्धति में अपने देश की विशेष परिस्थितियों और आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ेगा। १६०५ ई० के स्वदेशी आन्दोलन में इस दिशा में कुछ काम भी हुआ था। उन दिनों 'स्वदेशी' की पुकार थी। ऐसी शिक्षा-संस्थाओं की माँग थी जो प्राचीन आदर्शों की रक्षा करती हों परन्तु उनका विकास आधुनिक ढंग पर हो। उस समय बहुत-सी नवीन राष्ट्रीय शिक्षा-संस्थाओं का जन्म हुआ। इनमें से बहुत-सी थोड़े दिन चल कर समाप्त हो गईं। इसका कारण यह था कि इस प्रकार की अधिकांश संस्थाओं को किसी न किसी व्यक्ति ने अपने बल पर खड़ा किया था और उसका हाथ हटते ही वे ढेर हो गईं। दूसरी बात यह थी कि वह प्रयोगों का युग था और इनका रूप प्रयोगात्मक था। उन्हें स्वदेशी आन्दोलन की उत्तेजना का बल

प्राप्त था और इस उत्तेजना के ठण्डी होने के साथ ही ये संस्थाएं भी ठण्डी पड़ गईं।

वर्धा-शिक्षा के सम्बन्ध में कुछ लिखने से पहले हमें यह देखना होगा कि वर्तमान शिक्षा-पद्धति के क्या दोष हैं। पिछली शताब्दी के आरम्भ में इस शिक्षा-पद्धति का जन्म हुआ। इसके आविष्कर्ता लार्ड मेकाले थे। मेकाले का मत था कि शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी भाषा हो। आधुनिक शिक्षा-प्रणाली का सूत्र-पात भी उन्हीं के हाथों हुआ। मेकाले का लक्ष्य यह था कि वह राज्य-संचालन के लिए शिक्षित वर्ग को जन्म दे। उन्हें सफलता मिली।

परन्तु आज हम विदेशी शिक्षा के भार से दबे हुए हैं। हमारी शिक्षा-पद्धति पर विदेशी शिक्षा-पद्धति की जो क़लम लगाई गई उसने बड़े कटु और विषम फल दिये हैं। आज हमारी शिक्षा किसी महान आदर्श से अनुप्राणित नहीं। ज्ञान-प्राप्ति उसका ध्येय नहीं है। वह विद्यार्थी को साहित्य और कला के प्रति जिज्ञासु नहीं बनाती, उससे हमारी सामाजिक और अर्थनैतिक समस्याएं भी नहीं सुलझतीं। उससे राष्ट्र-चेत्ता और समाजचेत्ता व्यक्तियों का निर्माण नहीं होता, और न विद्यार्थी के व्यक्तित्व का विकास होता है। इनके विपरीत वह वर्ग-संघर्ष और व्यक्ति-संघर्ष का पोषण करती है। इसी शिक्षा के फल-स्वरूप हमारे यहाँ ऐसा शिक्षित समाज उठ खड़ा हुआ है जिसका साधारण जनता से कोई संबन्ध नहीं। आज शिक्षित जन-समाज और सामान्य जनता के बीच में गहरी खाई है। राष्ट्र की उन्नति का मूल मंत्र सहयोग है। हमारी शिक्षा हमें सहयोग का पाठ नहीं पढ़ाती। वह नब्बे प्रतिशत

जनता को कुछ नहीं देती। वह अधिक से अधिक चार-पाँच प्रतिशत जनता को अंग्रेजी छाप की शिक्षा देती है। इस शिक्षा का जीवन की वास्तविकता से कोई संबन्ध नहीं। इस शिक्षा के फल-स्वरूप हमारा शिक्षित समाज हमारी जनता के गाढ़े पसीने की कमाई पर जीता है। उसके स्वार्थों का अंत नहीं। हमारी अपनी शिक्षा में नीति और आचार का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान था। आज की शिक्षा में इनका कोई स्थान नहीं। इसका यह फल है कि हमारे शिक्षित समाज में नैतिक बल नहीं और उसके आचार-विचारों से भारत का मुख उज्ज्वल नहीं होता।

असहयोग-आन्दोलन के समय काशी और गुजरात में विद्या-पीठ खोले गये, और गुरुकुलों और प्रेम-विद्यालय (वृन्दावन) जैसी संस्थाओं का जन्म हुआ। कांग्रेस ने सामूहिक-शिक्षा की योजना तैयार की, परन्तु शक्ति उसके हाथ में नहीं थी और वह अपने स्वप्नों को सत्य नहीं कर सकी। १९३६ में प्रांतीय शासन-सत्ता कांग्रेस के हाथ में आ गई। चुनाव में उसकी विजय हुई और सात प्रांतों में उसका बहुमत रहा। अब यह आवश्यक हो गया कि कांग्रेस अपने कार्य-क्रम को पूरा करे और यह दिखलाये कि उसके प्रस्ताव कागजी घोड़े मात्र नहीं थे।

इसी समय गांधी जी ने हरिजन में कुछ लेख प्रकाशित किये। इन लेखों में उन्होंने कांग्रेस-मंत्रियों का ध्यान सामूहिक शिक्षा की ओर आकर्षित किया। परन्तु समय अच्छा नहीं था, कांग्रेस में मादक वस्तुओं का निषेध था, इससे प्रत्येक प्रांत में लाखों रुपयों के कर की हानि हुई थी। प्रांतीय सर-कारों के पास इतना धन नहीं था कि वह सामूहिक शिक्षा

के आन्दोलनों को आगे बढ़ातीं। महात्मा जी ने एक नई बात सुझाई। ३१ जुलाई, १९३७ में उन्होंने हरिजन में 'शिक्षा' शीर्षक से सम्पादकीय लिखा—'यह हमारा अभाग्य है कि शिक्षा की समस्या मादक वस्तुओं के निषेध से उलझा दी गई है। इसमें सन्देह नहीं कि हम हर एक प्रकार के नये कर लगा सकते हैं। परन्तु हम शिक्षा में इतने पीछे हैं कि अगर हमारी शिक्षा-योजनाओं को धन की कमी के कारण पड़ा रहना पड़ा तो इसका अर्थ यह होगा कि हम अपनी ज़िम्मेवारी से भागते हैं। इसीलिये मैं यह कहने का साहस करता हूँ, भले ही आपको मेरी व्यावहारिकता पर संदेह हो कि शिक्षा स्वयं निर्भर होनी चाहिये।' सच तो यह है कि गांधी जी का यह दृष्टिकोण बहुत महत्वपूर्ण था। सम्भव है कि उनके इस दृष्टि-कोण का कारण विशेष परिस्थिति हो, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि यह दृष्टिकोण नितान्त मौलिक था। उसी लेख में गांधी जी ने अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों का स्पष्टीकरण किया था। उनका विचार था कि शिक्षा का आरम्भ किसी कला-कौशल की शिक्षा के साथ हो जिससे विद्यार्थी शुरू से ही अपनी शिक्षा का व्यय कमा सके। विद्यार्थी जिन चीज़ों को स्कूल में बनाएँ उन्हें सरकार खरीद ले या उन्हें बाज़ार में बिकवा दे। इस तरह अंत में राजा को शिक्षा पर कुछ भी खर्च नहीं करना पड़ेगा और स्कूल विद्यार्थी के परिश्रम द्वारा ही आत्म-निर्भर हो जायँगे।

कितनी ही शिक्षा-संस्थाओं में कला-कौशल की शिक्षा का प्रबन्ध है और कुछ स्कूलों में इनकी शिक्षा अनिवार्य रूप से दिलाई जाती है। ऐसी अवस्था में गांधी जी की मौलिकता कहां

थी ? पहले तो इस विचार में कि शिक्षा-संस्थाएँ आत्म-निर्भर हों। दूसरे इस विचार में कि शिक्षा का माध्यम कला-कौशल हो। वास्तव में किसी भी एक कला या कौशल को केन्द्र बनाया जाता और उस कला या कौशल के सहारे समस्त ऐसे विषय पढ़ाये जाते जिनमें सिद्धान्त की बातें रहतीं। कला-कौशल की शिक्षा का ढंग बिलकुल वैज्ञानिक होता। पहले जबानी शिक्षा दी जाती फिर पढ़ना और लिखना सिखाया जाता। शिक्षा-क्रम सात वर्ष तक चलता और उसकी समाप्ति पर विद्यार्थी में इतनी योग्यता होती जितनी कि आजकल के हाई स्कूल शिक्षा-प्राप्त नव-युवकों में होती। अन्तर इतना होता कि शिक्षा का माध्यम मातृभाषा होती और सैद्धान्तिक शिक्षा व्यावहारिक शिक्षा के साथ-साथ निर्विकल्प रूप से चलती। विद्यार्थी के चारों ओर ऐसा वातावरण तैयार किया जाता जो उसके विकास में सहायक होता। शिक्षा के अंत में उसे बेकारी के भूत से जूझना नहीं पड़ता। हस्त-कौशल की शिक्षा के कारण वह अपनी शिक्षा की समाप्ति पर राष्ट्र का कमाऊ सदस्य होकर बाहर निकलता।

इसी शिक्षा-पद्धति का नाम वर्धा-शिक्षा-पद्धति पड़ा। यह आशा की जाती है कि इसी शिक्षा-पद्धति से राष्ट्र की आत्म-चेतना का विकास हो जायगा। आजकल हमारे नगर हमारे ग्रामों का शोषण कर रहे हैं। वर्धा-शिक्षा से यह शोषण बन्द हो जायगा, ऐसी सम्भावना है। इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के नागरिक और ग्रामीण उद्योग-धन्धों का परिष्करण और संगठन होगा और देश के उद्योगीकरण में सहायता मिलेगी। इस प्रकार एक शान्तिमयी क्रान्ति का जन्म होगा। वर्धा-शिक्षा को

जारी करने के लिए सबसे बड़ी कठिनाई उपर्युक्त शिक्षा-प्राप्त शिक्षकों की थी। प्रोफेसर के० टी० शाह ने यह प्रस्ताव किया कि शिक्षकों को शिक्षा देने के लिए शिक्षा-केन्द्र खोले जायँ। २२ अक्टूबर, १९३७ को वर्धा के नव-भारत-विद्यालय में बड़े-बड़े शिक्षा-विशेषज्ञों की एक सभा हुई जिसमें सभापति का आसन महात्मा गांधी ने ग्रहण किया। सभा में डाक्टर हुसेन के सभापतित्व में एक कमेटी बनाई, उसका काम यह था कि वर्धा-योजना को व्यवहारिक रूप दे। छः महीने के अथक परिश्रम के बाद कमेटी ने रिपोर्ट तैयार की और गांधी जी के सम्मुख शिक्षा-क्रम उपस्थित किया।

सन् १९३० के हरिपुरा कांग्रेस अधिवेशन में वर्धा-शिक्षा को राष्ट्रीय शिक्षा के रूप में स्वीकार किया गया। जिस रूप में यह स्वीकृत हुई वह यह है—

(१) विद्यार्थी को सात वर्ष तक निर्विकल्प और निःशुल्क प्रारम्भिक शिक्षा मिलनी चाहिए। शिक्षा की भाषा विद्यार्थी की मातृ-भाषा हो।

(२) शिक्षा किसी कला-कौशल के सहारे दी जाय और समस्त लाभप्रद सैद्धान्तिक ज्ञान को उस कला-कौशल से सम्बन्धित किया जाय जिसको विद्यार्थी ने अपने लिए चुना हो। विद्यार्थी की आवश्यकताओं का ध्यान रखा जाय। कांग्रेस अधिवेशन के बाद प्रान्तीय सरकारों ने भिन्न-भिन्न स्थानों पर शिक्षा-केन्द्र स्थापित किए। ऐसे शिक्षा-केन्द्रों में शिक्षकों को संगीत, चित्रकला और रेखा-विज्ञान की प्रारम्भिक बातें भी बताई जातीं। केवल दो वर्षों के थोड़े समय में इन केन्द्रों में सहस्रों की संख्या में शिक्षक तैयार हुए और उन्हें देश भर के प्रारम्भिक

स्कूलों में शिक्षा की नई योजना का काम करने के लिए भेजा गया। प्रान्तीय रिपोर्टों से यह पता चलता है कि अनेक प्रकार से योजना सफल हुई और सरकारी और ग़ैर सरकारी हलक़ों में इस शिक्षा-योजना की बड़ी प्रशंसा हुई। परन्तु अब तो इस योजना की काफ़ी परीक्षा हो चुकी है। देश के सभी प्रान्तों में वर्धा-शिक्षा-योजना का कोई-न-कोई रूपांतर चल ही रहा है। हमारे प्रान्त में तो इस प्रकार की शिक्षा को चलते हुए १० वर्ष हो गये। परन्तु देश के नेताओं के हाथ में देश की राजनैतिक शक्ति की बागडोर आये अभी अधिक समय नहीं हुआ। अभी दो वर्ष ही हुए हैं। परन्तु इन दो वर्षों में ही शिक्षा के क्षेत्र में अभूतपूर्व परिवर्तन हो गया है। अब वर्धा-शिक्षा को प्रारम्भिक शिक्षा की इकाई मान लिया गया है और हज़ारों की संख्या में शिक्षक प्रांत भर में फैल कर देश के बालकों को साक्षर और सभ्य बना रहे हैं।

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि गाँधी जी की मूल योजना विशेषज्ञों को पूर्ण रूप से स्वीकृत नहीं हुई और वर्धा-शिक्षा का जो रूप आज चल रहा है वह गांधी जी के सिद्धांतों का अधूरा प्रतिनिधित्व भी नहीं कर सकता। गांधी जी कला-कौशल को शिक्षा का केन्द्र बनाना चाहते थे। बालक कपड़ा बुनता हुआ, रहा चलाता हुआ, कपास ओटाता हुआ ही इतिहास, भूगोल, ज्ञान-विज्ञान, भाषा और साहित्य सब सीखे। इन सब विषयों की योजना तो आज भी है परन्तु मूलभूत दस्तकारी से उनका अधिक संबंध नहीं है। कदाचित् ऐसे शिक्षक मिलना सम्भव नहीं था जो कला-कौशलों के माध्यम से सब विषयों की शिक्षा देने में समर्थ होते।

फिर गांधी जी चाहते थे कि प्रारम्भिक शिक्षा अपना खर्च आप निकाल ले। आज यह भी सम्भव नहीं है। सच तो यह है कि गांधी जी की शिक्षा-योजना संसार भर के शिक्षा के इतिहास में एक अत्यंत क्रांतिकारी योजना थी और जब भी वह कार्यान्वित होगी वह मनुष्य-जाति को देवत्व की ओर ही आगे बढ़ायेगी। अभी वह दिन दूर है जब हमारा बालक धरती के निकट रह कर धरती की सारी विभूतियों को समेट सके और श्रम से उसका मस्तक उज्ज्वल हो।

———

१६

स्त्री-समाज की प्रगति

१—स्त्रियों का कार्य-क्षेत्र—घर या बाहर? २—स्त्री-स्वाधीनता के आंदोलन का इतिहास ३—महायुद्ध के बाद नारी समाज की प्रगति ४—भारतीय नारी-जीवन की प्रगति ५—नया दृष्टिकोण।

बहुत प्राचीन काल से संसार के लगभग सभी भागों में स्त्री का कार्य-क्षेत्र उसका घर रहा है। घर के बाहर से उसका सम्बन्ध बहुत कम रहा है अथवा नहीं रहा है। परन्तु इधर जब से नवीन युग का प्रारम्भ हुआ है, संसार के स्त्री-समाज में स्वतन्त्रता और स्वाधीनता की एक लहर भर गई है। उसका कार्य-क्षेत्र घर के भीतर ही नहीं रह गया है, दिन पर दिन विस्तीर्ण होता जा रहा है।

विकास मनुष्य के जीवन का नियम है। जब मनुष्य का अथवा जाति का विकास रुक जाता है, तब उसमें मृत्यु की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है। विकास के लिए चाहिये उपयुक्त वायु और उपयुक्त पृथ्वी। ये दोनों संकुचित सीमा में मिल नहीं सकते। एक ही पृथ्वी के टुकड़े पर आपको हर साल यदि फ़सलें उगानी होती हैं तो भी कुछ दिनों के लिये धरती को 'बेजोत' डाल देना होता है। उसको पृथ्वी और वायु को बदलना होता है। वर्षों की घर की चहार-दीवारी की संकुचित सीमा ने स्त्री-समाज को पंगु बना दिया था। उसका विकास रुक

गया था। घरों के भीतर जो काम होता था, वह उनके लिये यथेष्ट था।

स्त्री-स्वाधीनता की पहली आवाज़ योरोप से उठी। इसी समय महायुद्ध का सूत्रपात हुआ। इस युद्ध में वहां की स्त्रियों ने मार्के का काम कर दिखाया। पुरुषों ने उनके काम पर आश्चर्य प्रगट किया और भविष्य के गर्भ में छिपी स्त्रियों की महान् शक्ति का अनुभव किया। पुरुष युद्ध-क्षेत्र में थे; स्त्रियों ने उनकी अनुपस्थिति में घर और बाहर के कार्य, उद्योग, व्यवसाय अपने हाथ में लिये। उन्होंने कारखानों में गोला-बारूद तैयार किया और युद्धस्थल के बाहर घायलों की सेवा-सुश्रूषा की। इन स्त्रियों ने अपनी सेवाओं से लाखों पुरुषों के स्थान की पूर्ति की थी। स्वयम् उन्होंने अपनी शक्ति को जाना। महायुद्ध की समाप्ति पर वह फिर घर में बंद न रह सकीं। उन्होंने सार्वजनिक और राष्ट्रीय जीवन में प्रवेश किया और सामाजिक एवं राजनैतिक रंगमंचों पर अपना स्थान बनाया।

उन्होंने प्रगट कर दिया था कि यदि वे पुरुषों की भांति सुविधायें पावें तो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों की ही तत्परता और योग्यता से काम कर सकती हैं। यह नहीं कि पुरुष चुप बैठे हों। अधिकार की भावना प्राकृतिक है और वे भी अपना अधिकार खोना नहीं चाहते। आलोचनाएँ और निंदाएँ हुईं, परन्तु धीरे-धीरे स्त्रियों ने अपना स्थान बना ही लिया। आज स्त्रियाँ किसी भी विषय में पुरुष-समाज से पीछे रहना नहीं चाहतीं।

नवीन स्त्री-आन्दोलन में रूस, अमरीका, जर्मनी, इंगलैण्ड

तथा फ्रांस आदि देशों की स्त्रियों का विशेष हाथ था। यह आन्दोलन अधिकार प्राप्त कर रुक जाता, ऐसी बात नहीं थी। कुछ ही दिनों पश्चात् वह होड़ शुरू हो गई, जिसने स्त्री-वकील, स्त्री-डाक्टर, स्त्री-वायुयान-संचालक आदि-आदि उत्पन्न किये। अधिकारों और उच्च व्यवसायों की ओर यह दौड़ चाहे वांछनीय नहीं भी हो, पर जीवन का चिन्ह अवश्य है। डार्विन के सिद्धान्त के अनुसार जीवन संघर्ष है। संघर्ष जीवन है, गति है और विकास है। आज हम स्त्री-समाज में वही संघर्ष देखते हैं।

आज पश्चिम के देशों में 'अबला' कहलाने वाली, अपनी छाया से भयभीत स्त्रियाँ नहीं मिलेंगी। वे स्वास्थ्य के लिए व्यायाम करती हैं, पानी में तैरती हैं, दौड़ने का अभ्यास करती हैं। यही नहीं, स्त्रियाँ पहलवानी भी करती मिलेंगी। वे युद्ध-समितियों में राष्ट्र के जीवन-मरण के प्रश्नों पर गम्भीरता से विचार करती हैं और गार्हस्थ्य जीवन में अपनी कमाई सम्पत्ति से पुरुष की सहायता करती हैं।

अमरीका के स्वाधीन स्त्री समाज ने वहाँ के दाम्पत्य जीवन को बदल ही दिया है। विवाह फिर भी बंधन ही है। उनका कहना है कि यदि हमें शिक्षित और कुशल होकर भाँति-भाँति के उच्च कोटि के कार्यों का सम्पादन करना है तो हमें विवाह के जाल में न पड़ना चाहिये। विवाह-विरोधिनी-संस्थाएँ स्थापित हैं और उत्तरोत्तर बढ़ रही हैं। विवाहित जीवन को अवहेलना की दृष्टि से देखा जाता है। पुरुष-समाज भी विवाह की उपयोगिता को इतना नहीं मानता। वैवाहिक जीवन का खर्च बढ़ गया है और साधारणतः पुरुष उसे अपनी आय से पूरा नहीं कर सकता। फलतः अविवाहित स्त्री-पुरुषों की

संख्या अमरीका में बराबर बढ़ती जाती है। विवाह-सम्पादन में युवक-युवती को पूरी स्वाधीनता है। विवाह के पूर्व युवती और युवक में 'कोर्टशिप' का प्रथा है। वे कुछ दिनों साथ रह कर एक दूसरे की योग्यता-अयोग्यता का परिचय प्राप्त कर लेते हैं। तत्पश्चात् रजिस्ट्रार से आज्ञा-पत्र लेकर किसी सिविल-सर्वेन्ट की उपस्थिति में अथवा गिरजे में पादरी के सामने विवाह-संस्कार पूरा करते हैं। यह विवाह-संस्कार बहुत सरल है और उसमें बहुत थोड़ा सा समय लगता है। विवाह के पश्चात् युवक माता-पिता से अलग हो कर अपने गार्हस्थ्य जीवन-संसार का निर्माण करता है।

रूस में बोलशेविक क्रान्ति (१९१९) के पूर्व स्त्रियों की दशा भारतीय स्त्रियों की आज की दशा की भाँति ही दयनीय थी। रूस के माकुटस्क-नामक प्रांत में तो स्त्रियाँ बेची भी जाती थीं और उनका मूल्य भी बहुत कम होता था। वैवाहिक जीवन भी दासत्व से अच्छा न था। पत्नी पति का खिलौना-मात्र थी। विवाह-सम्बन्ध-विच्छेद का अधिकार पुरुष-मात्र ही उपयोग में ला सकते थे। और तब स्त्री को अपने बच्चे भी उन्हें सौंपने पड़ते थे। इस अवस्था में स्त्री को सदा प्रयत्न करना पड़ता था कि पति कभी उससे अप्रसन्न न हो सके। समाज में व्यभिचार की वृद्धि थी।

क्रान्ति के पश्चात् जब सोवियट सरकार की स्थापना हुई तब स्त्री-पुरुषों के समानाधिकारों की घोषणा हुई। महिला पत्र-पत्रिकाओं का जन्म हुआ। महिला-क्लब, महिला-पुस्तकालय और महिला-व्यायामशालायें स्थापित हुईं और देहातों तक पहुँच गईं।

कारखानों में काम करने वाली स्त्रियों और लड़कियों की उन्नति के लिए भी वहाँ अनेक प्रकार की सुव्यवस्थाएँ बन गईं। शिशु-पालन का भार सोवियत सरकार ने ले लिया। वहाँ पर बड़ी योग्यता के साथ बच्चे पाले जाते हैं। रूस में स्त्री-पुरुषों में परस्पर प्रतिद्वन्दता नहीं, वरन् दोनों मिल कर जीवन की पूर्ण उन्नति में लगे हैं।

टर्की की स्त्रियाँ भी जीवन-क्षेत्र में आगे बढ़ कर संसार की उन्नत स्त्रियों का सामना कर रही हैं। उन्होंने मुल्लाओं और पोपों के फ़तवों और क़ुरान की दुर्बल आयतों को ठुकरा दिया है।

महायुद्ध के बाद से जर्मनी की स्त्रियों का जीवन ही बदल गया है। वहाँ की युवतियाँ युवकों की भाँति ही शारीरिक और मानसिक उन्नति में अग्रशील हो रही हैं। शारीरिक संगठन और शक्ति-संचय वे युवकों की भाँति ही करती हैं। वहाँ की व्यवस्थापिका सभाओं में महिला-प्रतिनिधियाँ ली जाती हैं। अदालत, चिकित्सालय, साहित्य-क्षेत्र और धार्मिक-क्षेत्र कुछ भी स्त्रियों से अछूता नहीं रह गया है। प्रायः संसार के सभी समुन्नत देशों की स्त्रियाँ अपने जीवन में आगे बढ़ रही हैं। बड़े देशों की बात छोड़ देने पर भी जापान, फ्रांस, दक्षिण अफ्रीका, इगलैंड, इटली, ब्रेज़िल, चीन और न्यूज़ीलैण्ड आदि प्रदेशों के आन्दोलनों से वर्तमान स्त्री-समाज की प्रगति स्पष्ट हो जाती है। संसार की राजनीति में इन देशों का एक-सा स्थान नहीं है, परन्तु इन सभी देशों में स्त्रियों ने अपने अधिकारों को समझ लिया है। वे जाग्रत हैं और दृढ़ बन रही हैं। स्वयम् हमारे देश में भी सूक्ष्म रूप से यह आन्दोलन चल रहा है। वर्तमान

शिक्षा के साथ देश का वातावरण बदल रहा है। भारत जैसे महान् देश में उन्नति की प्रगति तेज़ न जान पड़े तो आश्चर्य नहीं है। परन्तु यह निश्चय है कि हमारी स्त्रियाँ भी बराबर अपना उपयुक्त स्थान ग्रहण कर रही हैं। उन्होंने पुरुष के अनधिकृत क्षेत्रों में प्रवेश किया है। सत्याग्रह-आन्दोलन के कारण हमारे स्त्री-समाज में बड़ी भारी जाग्रति हुई। गृह-क्षेत्र से निकल कर पहली बार भारतीय नारी ने युद्ध में पुरुष का सामीप्य ग्रहण किया।

स्त्रियों के अधिकार की बात कहाँ तक वांछनीय है, यह तर्क का विषय नहीं रह गया। यह स्थूल सत्य है कि हमारे पिछड़े समाज की स्त्रियों ने भी राष्ट्रीय और सामाजिक क्रान्ति में प्रवेश किया है और वे अपना उपयुक्त स्थान बनाने में लगी हैं। यह भय का विषय है भी नहीं। जीवन को जितनी भी अधिक स्वाधीनता प्राप्त होगी, वह विकसित होगा, पूर्ण होगा। ध्यान रखने का विषय यह होगा कि अधिकार के क्षेत्र में सफल होने पर स्त्रियाँ पुरुष की प्रतिद्वन्दता को ही सब कुछ समझ कर जीवन को संघर्षमय और विषाक्त न बना लें। जैसा रूस के एक महान लेखक ने लिखा है—जीवन संघर्ष नहीं, वह सहयोग का दूसरा नाम है। यदि हमारा स्त्री-समाज स्त्री-पुरुष के अधिकारों और वैषम्य के बीच सामंजस्य स्थापित कर सका तो वह संसार की स्त्रियों का निकट भविष्य में ठीक-ठीक नेतृत्व कर सकेगा। अभी इस दिशा में मानव समाज को बहुत कुछ करना है। स्त्री के घर-बाहर के जीवन के सम्यक् संतुलन के आधार पर ही नये युगों के सुख-शांति की नींव पड़ सकती है, इसमें संदेह नहीं।

२०

भारतीय स्त्री समाज

१—विवेकानन्द की एक उक्ति २—भारतीय नारी के मूलादर्श ३—इन आदर्शों की सीमा और हानि-लाभ ४—नई नारी ५—आधुनिक जीवन में नारी का पुनर्जागरण ६—नया भारतीय नारी-समाज ।

स्वामी विवेकानन्द की इस कविता से अच्छा भारतीय स्त्रियों का कीर्ति-गान कोई नहीं हो सकता—

मा का हृदय, वीर नायक की इच्छा शक्ति,
मंद मलय की मृदुता, जीवन की अनुरक्ति,
होमपूत वेदी का पावन आकर्षण,
अग्नि-शिखा का तेज, संघ-बल का गर्जन—
यही भला क्यों, और न जाने गुण कितने !
(कौन अरे कर सके कल्पना) हैं जितने
आत्मा के सद्भाव, जगत के स्वप्न अमर,
नारी, तेरे चरणों पर सब न्योछावर !!
(अँग्रेज़ी से अनूदित)

और जब हम उन महान माताओं का स्मरण करते हैं, जिन्होंने महान् पुरुषों को जन्म दिया और अपने सुखों का बलिदान कर उन्हें महान् आदर्शों का पाठ दिया; जब हम उन महती नारियों का स्मरण करते हैं जिन्होंने अपने पतियों के कंधे से कंधा भिड़ा कर युद्ध किया और अपने सतीत्व की रक्षा के

लिए प्रज्ज्वलित अग्नि-कुण्ड में जा पड़ीं; जब हम उन विनय-शीला पत्नियों का स्मरण करते हैं जो हमारी सीता की रसोई के भीतर से हमें शांति, सुख और स्वास्थ्य का दान प्रदान करती हैं, तब यह ऋषिगान हमें कवि का निरर्थक शब्दाडम्बर नहीं रह जाता। प्राचीन काल से भारतीय स्त्रियों की अद्वितीय प्रतिभा के सौरभ से हमारा इतिहास नन्दित रहा है। संसार के इतिहास में उन आदर्शों से महत्तर आदर्शों की कल्पना ही नहीं हुई, जिन आदर्शों को हमारी नारियों ने अपने रक्त से पल्लवित किया है।

भारतीय नारी पहले माता है और अंत में माता है। हिन्दू मात्र के मस्तिष्क में नारी-शब्द के सुनते ही माता का चित्र उपस्थित हो जाता है। हमारे घरों में माता का स्थान सर्वोपरि है। हमारी घरेलू बातों में भार्या का कुछ स्थान नहीं रह जाता। पश्चिम में भार्या का स्थान सर्वोपरि है। उसे ही कुटुम्ब में अधिकार प्राप्त है। माता का स्थान बहू के स्थान के नीचे है। हमारी भारतीय संस्कृति ने माँ को पत्नी से कहीं ऊँचा सिंहासन दिया है। हमारे शास्त्रों ने निःस्वार्थ सेवाभावा, क्षमाशीला मातृ शक्ति को देवी कहा है। नारी के सम्बन्ध में हिन्दू आदर्श यह है कि नारी माँ बन कर ही अपने नारीत्व को सार्थक करती है. और मातृत्व को प्राप्त कर पत्नी पति के लिए कल्याणमयी हो जाती है।

नारी का दूसरा आदर्श पत्नीत्व है। हिन्दू के लिए पत्नी इहलोक और परलोक में चिर-संगिनी है। हमारे यहाँ पति-पत्नी का सम्बन्ध एक साथ ही लौकिक, धार्मिक और आध्यात्मिक है। वह लौकिक कम है और धार्मिक और

आध्यात्मिक अधिक। हिन्दू के लिए प्रजनन लौकिक काम-कृत्य से अधिक धार्मिक कृत्य है क्योंकि संतति का पिता से इस लोक का ही सम्बन्ध नहीं है, परन्तु पिता और पितृों की दिवंगत आत्माओं से उसका परलोक का भी सम्बन्ध है। हिन्दू पत्नी को सहधर्मिणी कहा जाता है क्योंकि वह धार्मिक कृत्यों में सहायता करती है। वह पति को संतति की माता है, इस लिये जाया कही जाती है। हमारी पत्नियों के अधरों पर वासना के लाल गुलाब नहीं खिलते।

नारी के प्राचीन आदर्श ने स्त्री को पुरुष पर अवलम्बित कर रक्खा था। वह अविवाहित रहती तो उसके पिता का उसका अधिकार होता, पत्नी होने पर वह पति के आधीन रहती और वैधव्य प्राप्त होने पर उसे अपने पुत्र के कहे पर चलना पड़ता। इस प्रकार हम देखते हैं कि नारी की वैयक्तिक और स्वतंत्र सत्ता नहीं थी। हिन्दू समाज में उसका स्थान किसी माध्यम द्वारा ही होता था। इस आदर्श ने नारी को सुरक्षित बना दिया, परन्तु इसने हानियाँ भी की हैं। यह आदर्श पर्दे की प्रथा के जन्म और विकास के लिए जिम्मेवार है जिसने हमारी नारियों के मस्तिष्क और व्यावहारिक शक्तियों का विनाश किया है, और हमारे पुरुषों में व्यभिचार की वृद्धि की है। पिछली कितनी ही शताब्दियों से भारतीय स्त्रियाँ बाहर को चहार-दीवारी के अन्दर रह रही हैं और उनकी कूप-मण्डूकता ने उन्हें निर्जीव प्राणी बना दिया है।

परन्तु पश्चिम ने नारी का एक नया आदर्श हमारे सामने रखा है। वहां के समाज में नारी का अपना एक विशेष स्थान है। वह लड़की है, पत्नी है या माँ है, परन्तु साथ ही वह समाज

की सदस्य भी है और उसे माता-पिता, पति अथवा संतान के प्रति उत्तरदायित्व सँभालते हुए किसी भी जातीय संस्था या सामाजिक संस्था में काम करने की स्वतंत्रता है। हिन्दुओं ने यह स्पष्ट व्यवस्थायें दी थीं कि स्त्री घर को देखे और पुरुष बाहर को। इस प्रकार कार्य का विभाजन हो गया था। इस कार्य-विभाजन के नीचे यह विचार काम कर रहा था कि उभय लिंग के प्राणियों के कार्य-क्षेत्र भी भिन्न हैं। यद्यपि पश्चिम में इस विषय पर कोई मत स्थिर नहीं हुआ है, परन्तु वहाँ नारी-स्वतंत्रता के सम्बन्ध में बड़े-बड़े आन्दोलन उठ चुके हैं और वहाँ नारियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों से कंधा भिड़ा कर चलती हैं। उनकी सफलता ने यह सिद्ध कर दिया है कि स्त्री-पुरुषों का कार्य-विभाजन अप्राकृतिक और अव्यावहारिक है। इसके अतिरिक्त पश्चिम में विवाह की संस्था को धार्मिक संस्था नहीं बनाया गया है।

पश्चिम के आदर्शों ने हमारे अपने घर के आदर्शों पर भी प्रभाव डाला है। हम अपने पुराने आदर्शों को नये ढङ्ग से देखने लगे हैं, प्रत्येक पग पर अनेक प्रश्न करने लगे हैं। भारतीय नारी की समस्याएँ ये हैं—मानसिक और दैहिक जीवन के प्रति उसका व्यवहार कैसा हो? क्या वह अपने एकान्त निवास से बाहर निकल कर जीवन के चौराहे पर आ खड़ी हो और प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष का हाथ बटाये? विवाह की समस्या के प्रति उसके क्या भाव हों? वह अपने पति को सम्पूर्ण रूप से समर्पित हो, उसके सेवा में ही अपना सौभाग्य समझे या अपने को गृहस्थी की दुकान चलाने का साझीदार समझे? आज यह प्रश्न हमारे सामने हैं। हम इनका जो उत्तर देंगे, हमारे जाति-चेतना पर उसका सीधा प्रभाव पड़ेगा। हम जानते हैं कि समय शीघ्रता

से बदल रहा है। हमें विवाह और पत्नीत्व के आदर्शों को बदल देन है। इन क्षेत्रों में आमूल क्रान्ति के लिए तैयार रहना है। आज हमारी नारी संसार से दूर चहार-दीवारी में बंद नहीं रह सकती। पर्दे की दृढ़ प्राचीरों में उसकी शक्तियों का ह्रास निश्चय है। हमारी नारियों ने अपनी पश्चिम की बहिनों को देख लिया है। वे अपने अधिकार जानने लगी हैं। हमारी महिलाओं को इस देश के सामाजिक, अर्थनैतिक और राजनैतिक उत्थान में भाग लेना है। हमारे घर की आर्थिक दशा बराबर ख़राब होती जा रही है। आज पति की थोड़ी आमदनी से घर चलता नहीं दीखता। हमें कुछ करना ही है। हमारी महिलाओं को कुटुम्ब के लिए रुपया पैदा करना होगा। सच तो यह है चाहे अर्थ-शास्त्र के कारण, चाहे पश्चिमी सम्पर्क के कारण हमें आज अवश्य ही बदल जाना है।

आधुनिक जीवन हमें इस परिवर्तन की ओर आगे बढ़ा रहा है। हमारे देश में भी नारी-उत्थान के शख बज चुके हैं। हमारी महिलाओं को चाहे शिक्षा कम मिली हो, परन्तु वे अपने अधिकारों को जान गई हैं और उनका प्रयत्न यह है कि देश के भाग्य-निर्णय में उनका भी हाथ हो। नारी-आन्दोलनों के प्रति-रूप उन्हें हमारी राज्य की प्रतिनिधि-सभाओं के चुनाव में मत देने का अधिकार हो गया है। पिछले राष्ट्रीय आन्दोलनों ने बन्दी भारतीय नारी की शृंखलाएँ तोड़ दी हैं और उसे पुरुष का जीवन-सहचर बना दिया है। स्वाधीनता के शंख-नाद को सुनकर स्त्री-समाज अन्तःपुर से बाहर निकल आया है और उसने राष्ट्रीय माँग को बलवती कर दिया है।

अब तक हमारे सुधारकों का क्षेत्र नागरिक स्त्री-समाज रहा है। परन्तु यदि हमारी महिलाओं को आगे बढ़ना है तो हमें

उच्च वर्ग और मध्यवर्ग तक ही अपनी शक्तियों को सीमित नहीं करना है। हमें गाँव की स्त्रियों और निम्न वर्ग की स्त्रियों तक पहुँचना होगा। हमारे गाँवों और मिलों में काम करने वाली स्त्रियाँ ही हमारे समाज की रीढ़ हैं। इनमें निर्धनता और निरक्षरता का साम्राज्य है। नारी-सुधार की बात करने से पहले हमें इनके दुःखों को दूर करना है। इसके बाद ही इस दिशा में ठोस काम हो सकेगा।

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि नारी-मुक्ति के शंख बज चुके हैं। शताब्दियों की जड़ता का तिलिस्म तोड़ कर नारी जीवन के कर्मक्षेत्र में निकल चुकी है और वह समय दूर नहीं है जब वह अपने प्रकृत स्थान को ग्रहण करेगी। युगों-युगों से नारी नर की छाया-मात्र बनी हुई है। पंत ने इस नारी का बड़ा भावुक चित्र उपस्थित किया है—

पुरुषों की ही आँखों से
नित देख-देख अपना तन;
पुरुषों ही के भावों से
अपने प्रति भर अपना मन;

लो, अपनी ही चितवन से
वह हो उठती है लज्जित,
अपने ही भीतर-छिप छिप
जग से हो गई तिरोहित!

वह नर की छाया नारी!
चिर नमित नयन, पद विजड़ित;
वह चकित, भीत हिरनी-सी
निज चरण-चाप से शंकित!

मानव की चिर सहधर्मिणि,
युग-युग से मुख-अवगुंठित,
स्थापित घर के कोने में,
वह दीपशिखा-सी कंपित।

और नये युग की वाणी में नारी-स्वतंत्रता का नया आह्वान भी उद्घोषित किया है :

मुक्त करो जीवन-संगिनि को,
जननि, देवि की आदृत,
जग-जीवन में मानव के सँग
हो मानवी प्रतिष्ठित!

प्रेम स्वर्ग हो धरा, मधुर
नारी-महिमा से मंडित.
नारी-मुख की नव किरणों से
युग-प्रभात हो ज्योतित!

कवि की यह मंगलाकांक्षा कवि-स्वप्न न रह कर इस पृथ्वी का सबसे बड़ा सत्य बन जायेगी, इसमें कोई भी संदेह नहीं है। और वह दिन बहुत दूर भी नहीं है।

२१

भारतवर्ष की वर्तमान सभ्यता

१—वर्तमान सभ्यता के विकास का इतिहास २—हमारे विदेशी शासक और उनकी सभ्यता और संस्कृति का प्रभाव ३—पश्चिमी और पूर्वी सभ्यता : तुलनात्मक दृष्टिकोण ४—अपनी संस्कृति के मूल सूत्रों को पकड़ने की आवश्यकता ५—उपसंहार

१५० वर्ष पहले हमारे देश में एक ही प्रकार की सभ्यता थी। उसे निश्चित् रूप से भारतीय सभ्यता कहा जा सकता था। परन्तु आज ऐसी बात नहीं है। हमारा परिचय एक नई सभ्यता से हुआ। यह अँगरेज़ शासक वर्ग की सभ्यता थी। इसने देश पर परोक्ष और अपरोक्ष रूप से अनेक प्रभाव डाले। प्राचीन भारतीय सभ्यता पर इसका प्रभाव न पड़ना असम्भव था। इस प्रभाव को समझे बिना हम भारतवर्ष की वर्तमान सभ्यता को समझ नहीं सकते।

शासकों ने एक ऐसा वर्ग उत्पन्न करना चाहा जो उनके राज्य-संचालन में उनकी सहायता करे। यह क्लर्कों और सिविलि-यनों का वर्ग था। इस वर्ग को तैयार करने के लिए इसे शासकों की भाषा अँगरेज़ी में शिक्षा दी गई। इस शिक्षा ने धीरे-धीरे इस वर्ग पर अपना प्रभाव डाला। शासकों के सम्पर्क में आकर इस वर्ग ने उन्हीं के क़दमों पर चलना शुरू किया। इस

प्रकार पश्चिमी सभ्यता ने हमारे घरों में प्रवेश करना शुरू किया। कोट, पतलून, हैट, टाई पहनने वाले, चाय-टोस्ट खाने वाले एक नए जीवन का आविष्कार हुआ। भारतीय सभ्यता की इकाई कुटुम्ब है। यूरोप के विपरीत हमारे यहाँ सम्मिलित कुटुम्बों का राज्य है; बाप-बेटे, चाचा-ताऊ एक छत के नीचे रहते हैं। पश्चिम में जहाँ बेटे का विवाह हुआ कि वह बहू को लेकर अलग। माता-पिता से कुछ मतलब नहीं। वहाँ पत्नी ही सब कुछ है। हमारे यहां पितृ-कुल और ससुर-कुल दोनों में स्त्री पराधीन है। यहाँ का राज्य है। पश्चिम में स्त्री का आदर्श पत्नीत्व है, हमारे यहाँ मा स्त्रीत्व मातृत्व को प्राप्त हो कर ही धन्य होती है।

अतः जब नवीन सभ्यता के उपासक वर्ग का रंग चढ़ा तो उन्होंने प्राचीन आदर्शों की अवहेलना की और अपने पश्चिमी ढांचे में ढालना चाहा। माता-पिता की अवज्ञा शुरू हुई। सम्मिलित कुटुम्ब टूटने लगे। यहाँ भी पत्नीवाद का महत्व गाया जाने लगा। घोषणा हुई कि स्त्री-पुरुष के अधिकार बराबर हैं।

आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों ने भी नया समाज और नई सभ्यता को उत्तेजना दी। पूँजीपतियों और महाजनों का एक नया वर्ग स्थापित हुआ। इसका आदर्श हुआ कर्म, अविराम कर्म। इसने शासकों के सहारे बड़ा न्यायालय खड़ा किया और उसके न्याय के छत्र के नीचे मजदूरों, किसानों और अछूतों को मन-चाहा लूटा। इसी नवीन सभ्यता को (जो नई आर्थिक परिस्थिति की उपज थी) प्रेमचन्द ने महाजनी सभ्यता कहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन सभ्यता पर पश्चिमी सभ्यता का आक्रमण हुआ। अभी यह संघर्ष चल रहा है। हम न पूर्ण रूप से प्राचीन सभ्यता को तिलांजलि दे सके हैं, न पूर्ण रूप से पश्चिमी सभ्यता को ग्रहण कर सके हैं। आज हम दो नावों पर चल रहे हैं। ईश्वर जाने कहाँ पार लगे ? परन्तु पिछले दिनों के सांस्कृतिक और राजनैतिक आन्दोलनों ने हमारी आँखें खोल दी हैं।

जब हम राजनैतिक स्वराज्य चाहते थे तब हम सांस्कृतिक स्वराज्य क्यों न चाहें। पश्चिम की सभ्यता और संस्कृति की ग़ुलामी क्या कम ग़ुलामी है ? क्या हमारी अपनी ४-५ हज़ार वर्षों की सभ्यता और संस्कृति कुछ नहीं है ? और आज तो हम स्वतंत्र हैं। अंग्रेज चले गये हैं। परन्तु उनकी देन—महाजनी अर्थवादी और पश्चिमी ढंग की सभ्यता—अब भी यहाँ है। हमारे नेता भी उसकी चकाचौंध में आ गये हैं। वे विदेश जाते हैं तो विदेशियों की वेश-भूषा में। उन्हीं की भाषा में बोलते हैं। खाने-पीने में भी उनसे होड़ करते हैं। वर्डनार्ड शा शाकाहारी हैं। चौरानवे वर्ष की आयु में भी वह सिगरेट-चाय नहीं छूते। परन्तु हमारे नेताओं को कदाचित् यह कहते हुए लज्जा आये कि भारत की अधिकांश जनता शाकाहारी है—जैसे मांसाहार सभ्यता का विशेष अंग हो। कदाचित् अपने देश की सांस्कृतिक धारा को वह कोई गौरव की वस्तु नहीं समझते।

पश्चिमी सभ्यता के आदर्श भिन्न हैं। वह मुख्यतः मशीन-युग की उपज है। उसमें अर्थ का ही राज्य है। पश्चिम विकासवादी है और वह सभ्यता और संस्कृति का मूल-मंत्र संघर्ष मान लेता है। प्रकृति और मनुष्य में विरोध चल रहा है।

मनुष्य भी पशु है और पशुओं की भाँति मनुष्य-समाज में भी पशुबल की जीत होती है। अतः प्रत्येक प्राणी अन्य प्राणी को शत्रु माने और स्वरक्षा के लिए कटिबद्ध हो। मशीनों ने सारी शक्ति को, राष्ट्र के सारे धन को, उत्पत्ति और वितरण के साधनों को, केवल कुछ वर्गों तक सीमित कर रखा है। जहाँ 'योग्य जन जीता है' की हुंकार उठती है, वहाँ प्रत्येक जन 'योग्य' बनना चाहता है। और जीने की योग्यता के लिये शारीरिक बल और साम्पतिक बल का संचय किया जाता है। अन्य वर्ग इस धनी और शक्ति-शाली वर्ग के शत्रु बन जाते हैं। धनी और शक्तिशाली वर्ग अपने देश की जनता पर अपना प्रभुत्व जमा लेता है तो विश्व-विजय के लिए बाहर निकलता है। पहले व्यापारी और औद्योगिक मशीनें चाहिये। फिर वायुयान, जलयान और अणुबम। यह पश्चिमी सभ्यता का चित्र है। जहाँ सारा ढाँचा ही संघर्ष, शत्रुता, पशुबल, अधिकार लिप्सा और भौतिक सुख-समृद्धि पर खड़ा हो, वहाँ की सभ्यता इसी प्रकार भी हो सकती है। दूर से इसकी चमक-दमक भी बहुत आकर्षक है—परंतु पीछे आत्महत्याओं, पागलों और कौरव में रहने वाले कम करों की असंख्य गणना भी है।

पूर्वीय सभ्यता ने भौतिक सुख को प्रधानता नहीं दी। यहाँ त्याग का महत्त्व ही अधिक रहा है। राजप्रसाद ऋषियों के आश्रमों के सामने मतमस्तक रहे हैं। यहाँ तपस्वी, विद्वान् और कलामर्मज्ञ ही नेता बना है। संघर्ष नहीं, सहयोग। पशुत्व नहीं, प्रेम। यहाँ चित्र ही दूसरा है। मिल-जुल कर रहने की कला का जैसा विकास इस देश में हुआ है वैसा कहाँ हुआ है? मनुष्य धन का उपयोग ही कर सकता है, उसे अपने

साथ उठा कर नहीं ले जा सकता। तब वह धन हो उलझन में फँस कर क्यों रह जाये ?

पश्चिमी सभ्यता के समर्थक कहते हैं—वह दिन लद गये। वह तो सोने का सपना था। वह अब लौट नहीं सकता। सम्मिलित कुटुम्बों को जिलाना असंभव है; विवाह की मर्यादा को प्रतिष्ठित रखना कठिन है। पत्नी को परी बनाये बिना काम नहीं चलेगा। आखिर हम उसे कब तक चहारदीवारी के भीतर बंद करके रखेंगे। वे कहते हैं—जीवन की अविनश्वरता में वैज्ञानिक के दृष्टिकोण से चाहे हमें विश्वास भी हो परंतु पुनर्जन्म की बात हम नहीं मानते। हमें तो इसी जीवन में सारे भोग भोग लेना है। सन् १८५७ ई० से पहले जो था, वह सड़ा गला था। जैसे दुनिया का आरंभ ही १८५७ ई० में हुआ हो। पश्चिम का भूत उनके सिर पर सवार है। आज हम स्वतंत्र हो गये हैं परंतु पश्चिम के इस भूत ने हमें मृतक बना रखा है। चोरबाज़ारी, घूस, छल-कपट, भोग-विलास और निरुद्देश्य कर्म ही जैसे अब जीवन का मूल-मंत्र हो गया है। सब इसी चक्र में बंदी हैं, फिर यह तिलिस्म कौन तोड़े ?

परंतु यदि भारतवर्ष को सचमुच भारतवर्ष होना है तो यह तिलिस्म उसे तोड़ना होगा। मशीनों की सभ्यता को ठुकराना होना और मानवता का जयघोष करना होगा। उसे सहयोग की दीपशिखा जलानी होगी, त्याग की अमरबेलि बोनी होगी। उपनिषदों के श्रुतियों से लेकर कबीर, सूरदास और तुलसीदास तक—गांधी जी तक—हमारे सभी संतों, कवियों, तत्त्व-चिंतकों और महान् पुरुषों ने सत्य, अहिंसा, प्रेम और पारस्परिक सहयोग की ही मंगल-ध्वनि की है। यदि भारतवर्ष की वर्तमान सभ्यता में इन तत्त्वों का समावेश

नहीं होता तो वह अधूरी है, या भारतीय नहीं है, कम से कम इतने अंशों में तो नहीं है।

अभी १५०—२०० वर्ष पहले जो संभव था, वह नई परिस्थितियों में नये ढंग से क्या अब भी संभव नहीं है? तब क्या हिन्दू-मुसलमान सभ्यताओं की आवाज़ लगाई जा रही थी? तब क्या प्रत्येक व्यक्ति अपने धन को इस तरह दाँत से पकड़ कर बैठ जाता था? तब क्या दया-क्षमा, दान-दक्षिणा और सत्य-अहिंसा ऐसे ईश्वरीय गुण थे जिन्हें हम मानव-जीवन में उतार ही नहीं सकते? सच तो यह है कि एशिया के हिन्दू-मुसलमानों, पारसियों-ईसाइयों सबकी एक ही सभ्यता थी। रामकृष्ण, मुहम्मद, अरस्तू, ईसा सबने देह के ऊपर आत्मा की विजय घोषित की, त्याग और तपस्या की महिमा गाई और मानव की समानता और सहकारिता का उपदेश दिया। पश्चिम की सभ्यता किस अर्थ में ईसाई सभ्यता है? वह ईसा के किस सिद्धांत को मानती है? उसके पैग़म्बर हैं डार्विन और मार्क्स जो विकासवाद, संघर्षवाद और वर्गयुद्ध-वाद के आविष्कर्ता हैं। पश्चिम की शिक्षा-दीक्षा के प्रभाव के कारण पूर्व आज इतना स्तंभित है कि वह उन महान् जीवन-तत्त्वों की घोषणा भी नहीं कर सकता जो उसे ५,००० वर्ष से जीवित-स्पंदित रखे हैं। इतनी बड़ी पराजय मानव-जाति की इतिहास में और कभी नहीं हुई थी। भारतवर्ष की वर्तमान सभ्यता हमारे इतिहास के पीठ पर कोढ़ की भांति है, आज इसे हमें मानना होगा। कोई भी देश अपने प्रति अविश्वस्त होकर जीवित नहीं रह सकता। अपनी संस्कृति की मूलगत विशेषताओं को पुनर्जीवित किये बिना हमारा कल्याण नहीं है। नये जीवन के प्रगतिशील तत्त्वों को हम ले लें, परंतु अपनी आत्मा की हत्या न करें।

२२

अछूतोद्धार

१—अछूत-समस्या पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण। २—बीसवीं शताब्दी के अछूतोद्धार आंदोलन। ३—गांधी जी और उनका हरिजन-आंदोलन। ४—नए स्वतंत्र भारत में अछूतोद्धार की समस्या का रूप। ५—समाज के नेताओं का कर्तव्य।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य से इतर कुछ ऐसी जातियाँ हैं जो दास्यकर्म करती हैं और अछूत कहलाती हैं। दास्यकर्म करने वाले यह 'शूद्र' वर्ण के लोग कैसे अछूत बने, यह मनोरंजक विषय है, परन्तु अभी इस क्षेत्र में काफ़ी शोध नहीं हुई है। परन्तु आज इन लोगों को अस्पर्श्य बना दिया है, ग़लती से छूने पर नहाना पड़ता है। इनके साथ खान-पान की बात तो क्या, इनके पास बैठना पाप है।

कुछ शोधकों का कहना है कि हमारे देश में अस्पर्श्यता का आरम्भ उस समय हुआ जब आर्यों ने अनार्य द्रविड़ जाति के लोगों पर विजय प्राप्त की और उन्हें दास बनाया।

ऋग्वेद में उन्हें "दस्यु", "असुर" आदि नामों से याद किया गया है जिनमें हेय भावना विद्यमान है। बाद में जब वर्ण-व्यवस्था की आयोजना हुई तो इन विजितों को दास्य कर्म सौंपा गया और "शूद्र" कहा गया। हो सकता है कि वर्ण-व्यवस्थापकों के मन में हेय भावना न हो, कालान्तर में शूद्रों का सम्बन्ध नीच कर्म से होने के कारण उन्हें अस्पर्श्य मान लिया गया हो।

स्मृतिकारों ने "शूद्रों" पर अत्यन्त अत्याचार-पूर्ण व्यवस्थाएँ दी हैं। कदाचित् वह आर्य रक्त को शुद्ध रखना चाहते हैं। परन्तु आर्य-जाति के महापुरुषों, धर्म-वेत्ताओं और महर्षियों ने बार-बार मनुष्य के बन्धुत्व की घोषणा की है। भगवान कृष्ण ने गीता में अर्जुन से कहा है—"ओ पार्थ, जो विनयशील हो कर मेरी शरण आता है, वह वैश्य हो या शूद्र, उसे मेरे लोक की प्राप्ति होती है।" बुद्ध ने ब्राह्मणों के विरुद्ध प्रचार किया और उनके धर्म में असंख्य शूद्र दीक्षित हुए। बाद में तो बौद्ध धर्म में इनका प्राधान्य रहा। महायानी प्रभावशाली बौद्धों में अधिकांश शूद्र थे। हीनयान के ८४ सिद्ध निम्न श्रेणी के ही लोग थे।

मध्ययुग के स्वतन्त्र संत चिंतकों ने फिर एक बार भ्रातृत्व की आवाज़ उठाई। कबीर ने कहा—

अवलि अलह नूरु उपाइया कुदरति के सभ बंदे।
एक नूर ते सभु जगु उपजिआ कउन भले को मंदे॥
लोगा भरमि न भूलह भाई।
खालिकु खलक खलक महि खालकु पूरि रहिओ सबठांई॥

और जो उन्होंने कहा, वह उनके बाद नानक, दादू, सुन्दरदास आदि सैकड़ों संतों ने भारतवर्ष के कोने-कोने से कहा। इनमें से अधिकांश संत "अछूत" थे। उच्च श्रेणी के हिन्दुओं ने इनकी बड़ी आवभगत की। कितने ही उनके धर्म में दीक्षित हुए, परन्तु सामूहिक रूप से उन्हें ग्रहण नहीं किया गया। वर्ण-व्यवस्था का पोषक कट्टर सनातनी आचार्य-वर्ग सदैव ही अछूतोद्धार का विरोधी रहा। तुलसी जैसे सहृदय ने भी लिखा—

ढोल, गँवार, शूद्र, पशु, नारी।
ये सब ताड़न के अधिकारी॥

कहने की बात यह है कि न तो अछूतों के वर्ग में चेतना ही उत्पन्न हुई, न वे उच्च श्रेणी (सवर्ण हिन्दुओं) द्वारा ग्रहीत हुए। यह परिस्थिति २०वीं शताब्दी के आरम्भ तक चलती रही।

बीसवीं शताब्दी भारतीय जन-समाज के जागरण की शताब्दी है। इस जागरण-युग में सबसे महत्वपूर्ण नाम गांधी जी का है। वैसे उन्नीसवीं शताब्दी में राममोहन राय, केशव चंद्र सेन और दयानन्द सरस्वती जैसे सुधारक हुए, परन्तु उनका लक्ष्य मुख्यतः हिन्दुओं का उच्चवर्ण समाज था। उन्होंने अपने संदेश को नागरिक जनता तक ही सीमित रखा। परन्तु गांधीजी समाज के निम्नतम वर्गों और देहाती जनता तक पहुँचे। उन्होंने पहली बार जनक्रांति का सूत्रपात किया। हरिजन-आन्दोलन उनके लिए सांस्कृतिक दृष्टि से भी उतना ही महत्वपूर्ण था जितना राजनैतिक दृष्टि से। गांधी जी की प्रेरणा मूलतः आध्यात्मिक हुआ करती थी यद्यपि वे उसे समय की आवश्यकता के अनुसार राजनैतिक या सामाजिक रूप प्रदान किया करते थे। वह मानव-मात्र की स्वतन्त्रता के समर्थक थे। इसीलिए जहाँ उन्होंने भारत की राष्ट्रीय परतंत्रता को दूर करने का प्रयत्न किया, वहाँ करोड़ों हीनवर्ग स्त्री-पुरुषों के सुख-दुख से वे अपरिचित नहीं रह सके। उन्होंने कहा—अछूत हिन्दू धर्म की ग्लानि हैं। वह हिंदू समाज के पीठ के फोड़े हैं। यदि समाज शीघ्र ही इस रोग से छुटकारा न पायेगा तो वह रसातल को चला जायेगा। उन्होंने अछूत के लिए एक बड़ा सुन्दर नाम हमें दिया। वे 'हरिजन' हैं। दीन-दुर्बलों में ही तो भगवान रहते हैं। इस दृष्टि से भी उनकी सेवा मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म है। परन्तु स्वयं हरिजनों को भी ऊपर उठना होगा। उन्होंने जहाँ सवर्णों की मानवता को ललकारा, वहाँ उन्होंने हीनवर्गों को मांसाहार, मद्य-पान, सामा-

जिक कुरीतियों और अशिक्षा के विरुद्ध जिहाद करने को कहा। उन्हें सफलता भी हुई। पूना पेक्ट (१६३४) के बाद सरकार का ध्यान भी इस वर्ग की ओर गया। सरकार जनगणना में अछूतों को हिन्दुओं से अलग एक स्वतन्त्र सत्ता दे रही थी। इसस हिन्दुओं की शक्ति तो नष्ट ही हो जाती परन्तु उनके माथे का कलंक भी अक्षुण्ण बन जाता और राजनैतिक क्षेत्र में एक महान विघटनकारी शक्ति का प्रादुर्भाव होता। गांधीजी ने अपने प्राणों पर खेल कर यह न होने दिया। उन्होंने कहा—हरिजन तो सवर्णों से भी अधिक हिंदू हैं। हम इस तरह कब तक अपनों का पराया करते रहेंगे। उन्होंने जेल से बाहर आते ही देशव्यापी दौरे किये और हरिजनों के प्रति जनता की सदिच्छाओं को जागरूक बनाया। दक्षिण में ब्राह्मण-अब्राह्मण समस्या सब से जटिल थी। कहीं-कहीं पर तो हरिजनों के लिए सड़कें भी अलग थीं। उनकी छाया पड़ने पर स्नान द्वारा ही प्रायश्चित सम्भव था। गांधी जी के व्यक्तित्व से प्रभावित हो कर अनेक मंदिरों के द्वार हरिजनों के लिए खुल गये। इतनी बड़ी क्रांति कदाचित् भारतवर्ष के इतिहास में कभी नहीं हुई थी।

गाँधी जी चले गये, परन्तु उन्होंने जो प्रकाश जलाया था वह अब भी नहीं बुझा है। आज केन्द्र में और प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें जो हैं जो हरिजनों के अधिकारों के प्रति जागरूक है। उनकी शिक्षा-दीक्षा का विशेष प्रबन्ध है। प्रांतों में राजकाज के प्रत्येक विभाग में हरिजन आ गये है। भीतर-बाहर दोनों ओर से हिन्दू समाज और भारतीय राष्ट्रीयता के इस सबसे बड़े कलंक के नाश के लिए सब कुछ हो रहा है। परन्तु अब देश का विधान बन गया है और उसमें भारतीय मात्र की समानता की घोषणा हो गई है। विधान की एक धारा यह है कि सरकार वर्ण-विभाजन को स्वीकार नहीं करेगी।

अस्पृश्यता राजदंड से दंडित होगी। अन्य भारतीयों की भाँति हरिजनों को भी मन्दिरों, होटलों, जन-संस्थाओं से पूरा-पूरा लाभ उठाने का अधिकार होगा। इस घोषणा के साथ संसार की सात करोड़ जनता एक ही क्षण में अपने ५००० वर्षों के बन्धनों से मुक्त हो गई है। संसार के इतिहास में मानव-मुक्ति की इससे बड़ी दिशा कहीं मिलेगी।

परन्तु सरकार अस्पृश्यता को अपराध ठहरा कर अपराधी को दंडित कर सकती है। वह मानव-स्वभाव को एकदम बदल नहीं सकती। उसे इस दिशा में बड़ी शक्ति से प्रयत्न करना होगा। हीन वर्णों को शिक्षा देकर उन्हें सवर्णों के स्तर पर लाने और श्रम की महत्ता स्थापित करने से ही हरिजन-समस्या का अंत हो सकता है। भारत विशाल महादेश है। उसके लिए यह संभव नहीं है कि एक शताब्दी में भी प्रत्येक गाँव तक विज्ञान की वे नई सुविधाएँ पहुँच सकें जो उन विभिन्न उद्योग-धंधों को जो हरिजनों से संबंधित हैं नई मान्यता दे दें। भंगी, चमार, धोबी आदि भाँति-भाँति के कर्म करते रहेंगे ही। परन्तु उनके प्रति हमें नई भावना जगानी होगी। उन्हें रहन-सहन की सुविधा देनी होगी। उन्हें सहयोग-समितियों और संघों में संगठित करना होगा। जिस समाज में सब व्यक्ति दैहिक श्रम करेंगे, जहाँ नागरिक सफ़ाई और घरेलू उद्योग-धंधों में भाग लेंगे, जहाँ देश की सेवा और काजकाज के सारे मार्ग सब के लिए खुले होंगे वहाँ वर्ण-श्रेष्ठता की बात स्वयं ही समाप्त हो जायेगी। यदि हमारी सरकार वर्ण-भेद नहीं मानती, यदि हमारे नेता एक वर्गहीन समाज के जन्म के लिए सच्चे हृदय से प्रयत्नशील हैं, यदि हम अपने आदर्शों के प्रति जागरूक हैं तो एक दिन इसी भारत-भूमि में देवताओं का

निवास होगा। देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के बाद हमारे समाज-नेता शिथिल हो गये हैं। गांधी जी के रचनात्मक कार्य-क्रम को आगे बढ़ाने के लिए सर्वोदय समाज की स्थापना तो हुई है, परन्तु सामान्य कांग्रेसी-जन समझता है कि उसका कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहा---सरकार ही सब कुछ कर देगी। यह बहुत बड़ा भ्रम है। कोई भी सरकार एक सीमा से आगे नहीं जा सकती। वह प्रगतिशील शक्तियों को उतेजना दे सकती है, सुधारकों में धन-जन और विज्ञान भी सुविधाएँ दे सकती है, परन्तु ३५-४० करोड़ जनता तक इकेली वह नहीं पहुँच सकती। नई संस्कृति के लिए समाज ही उत्तरदायी है। उसे युग के अनुरूप नये समाज-धम की प्रतिष्ठा करनी होगी। समाज और संस्कृति के नेताओं को आगे बढ़ना होगा।

२३

मित्र

१—'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी' २—मित्रता की परिभाषा ३—सच्ची और झूठी मित्रता ४—मित्र का चुनाव ५—आज की परिस्थिति ६—परिचित और मित्र ७—उपसंहार

तुलसीदासजी ने निम्नलिखित पक्तियों में मित्र-कुमित्र की बड़ी ही सुन्दर व्याख्या की है और इनमें सांसारिक अनुभव का सार भर दिया है—

जे न मित्र दुख होइ दुखारी। तिनहिं विलोकत पातक भारी॥
निज दुख गिरिसम रज करि जाना। मित्रक दुख रजमेरु समाना॥
जिन्ह के असि मति सहज न आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुपथ निवारी सुपंथ चलावा। गुन प्रगटे अवगुनन्हि दुरावा॥
देत लेत मन संक न परई। बल अनुमान सदा हित करई॥
विपति काल कर सतगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुन ऐहा॥
आगे कह मृदु वचन बनाई। पाछे आनत मन कुटिलाई॥
जा कर चित अहि गति समभाई। अस कुमित्रपरिहरहिं भलाई॥
सेवक सठ नृप कृपन कुनारी। कपटी मित्र सूल सम चारी॥

(किष्किन्धा-कांड)

इन पंक्तियों में मित्र-कुमित्र की जो व्याख्या है वह और कहाँ मिलेगी?

मित्रता एक बन्धन है जिसका आधार हमदर्दी और पारस्परिक प्रेम है। यह दो मनुष्यों के बीच का आनन्द-सम्बंध है। साधा-

रण परिचय से इसका आरम्भ होता है और धीरे-धीरे इतनी गहरी गांठ बँध जाती है कि मौत भी उसे तोड़ नहीं सकती। साधारणतः मित्रता एक ही वय, रुचि और स्वभाव के लोगों में होती है, परन्तु इस सामान्य नियम के अनेक अपवाद भी हो सकते हैं।

सच्ची मित्रता में स्वार्थ लेश-मात्र भी नहीं होता। सच्चे मित्र एक दूसरे के लिए बलिदान करने से नहीं हिचकते। उनका प्रेम और सेवा का आदान-प्रदान स्वाभाविक रूप से होता है। वह उनकी अन्तःप्रेरणा का फल है। वे परस्पर आश्वस्त रहते हैं। एक का हृदय दूसरे के लिए खुला-पृष्ठ रहता है। वे जीवन के सुख-दुख दोनों में समान रूप से बँधते हैं। सच्ची मित्रता जाड़े के बादलों की तरह अस्थायी, क्षण-भंगुर नहीं होती। वह अडिग चट्टान है। दुर्दिन और दुर्भाग्य की आंधियों के थपेड़े उससे टकरा कर पीछे लौट जाते हैं। सच तो यह है कि मित्रता की जांच ही ऐसे समय होती है। ऐसे भी युवक मिलेंगे जो इस लिए तुम्हारा गाते हैं कि तुम्हारे पास धन-सम्पत्ति है, परन्तु जहां धन को परख लेंगे कि वह तुम्हारे पास फटकेंगे भी नहीं। ऐसे मित्रों का कोई मूल्य नहीं। वे मित्रता के नाम को बदनाम करते हैं। मित्र वह है जो मुसीबत में तुम्हारा साथ दे। तुम्हारे साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर बढ़े। तुम्हें निरन्तर बढ़ने का साहस देता रहे। यह सच है कि ऐसे मित्र कितने हैं? परन्तु ऐसे ही नियमों ने मित्रता के नाम को सार्थक किया है और समय के मरुस्थल पर अपने पद-चिन्ह छोड़ देते हैं। राम-सुग्रीव, दुर्योधन-कर्ण, डेमन-पिथिअस, पृथ्वी-चन्द ऐसे ही इतिहास-प्रसिद्ध मित्र हैं।

मित्र हमारे आनन्द को द्विगुणित कर देते हैं और हमारे

विषाद को आधा बँटा लेते हैं। मनुष्य का हृदय संगी-साथी का भूखा होता है जिससे दुख-सुख की बात कह सके। जिसे ऐसा सच्चा संगी-साथी मिल गया, वह धन्य है।

मित्र चुनने में बड़ी सावधानी को आवश्यकता है। सच्चे मित्र से बड़ा धन दूसरा नहीं। परन्तु कुमित्र अथवा अयोग्य मित्र को पल्ले से बांधे फिरना बड़ी मूर्खता है। उससे लाभ से अधिक हानि होने की सम्भावना है। उससे प्रेम करना ऊसर में मेंह बरसना है। आजकल तो सच्चे मित्र विरल हैं; झूठे, धोकेबाज़ मित्र बरसाती कुकुरमुत्तों की तरह बढ़ रहे हैं। कौन सच्चा है, कौन झूठा, यह बताना भी असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। सच्ची परीक्षा का समय दुर्दिन है। यदि दुर्दिनों में भी तुम्हारे मित्र ने साथ दिया तब वह सच्चा मित्र है। उसे खोना पाप होगा। परन्तु बाद को यदि तुम्हें पता चले कि वह चरित्रहीन है तो उसे छोड़ना ही श्रेयस्कर होगा। मित्र दुर्दिन में भी तुम्हारा साथ दे यही सब कुछ नहीं है। उसमें ऐसे दुर्गुण न हो जो कालान्तर में तुम में प्रवेश कर जायें।

मित्रता के सम्बंध में कितने ही महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं। कहा है कि 'भिन्नरुचिर्हि: लोकः'। तो क्या अभिन्न-रुचि ही मित्र हो सकते हैं? क्या स्थायी मित्रता के लिए वय की समानता आव-श्यक है? वय और रुचियों की भिन्नता होने का पर भी कुछ लोग मित्रता को उसकी चरम सीमा तक नहीं निभा गये हैं। अधिकतः तो यह देखा जाता है कि समान रुचि के लोग मित्र बन जाते हैं और उनकी मित्रता बहुत दिनों चलती है। परन्तु ऐसे उदाहरण भी कम नहीं हैं जब विरोधी स्वभाव के मनुष्य मित्र और अभिन्न मित्र बन गये हैं। यही नहीं, कहीं मनुष्य और पशु भी अंतरंग मित्र बन गये हैं और एक ने दूसरे के

लिए अपने प्राणों की बलि दे दी है। सच तो यह है कि मित्रता को और संबंधों की तरह किसी निश्चित रूपरेखा में बाँधा नहीं जा सकता। वह इतनी सीधी-सरल चीज नहीं है कि हम उसे ज्यामिति की रेखाओं में बांध सकें।

परन्तु इसमें संदेह नहीं कि मित्रता प्रेम का अनन्द-संबंध है और उसके द्वारा दो प्राणियों के व्यक्तित्व का विकास ही होता है। वह वर्षा की शीतल जलधारा की तरह प्राणों को सिक्त कर देती है और जीवन को सुरक्षा और शांति के भावों से भर देती है। मित्र हमारे भीतर के सबसे सुन्दर गुणों को जगाने में समर्थ होता है। दुःख और निराशा में हम उसकी ओर सान्त्वना और उत्साह के लिए मुड़ सकते हैं। सुख के दिनों में वही हमारे आनंद के आस्वादन का दुगना कर देता है।

मनुष्य प्रेम और सौहार्द्य का भूखा है। वह आत्मदान करके ही सुखी हो सकता है। वह मनुष्य क्या जो अपने लिए जिये, अपने लिए मरे। इसीलिए जब मनुष्य-मनुष्य में प्रेम और सौहार्द्य का संबंध स्थापित हो जाता है, तो मनुष्य के सुख में ही वृद्धि होती है। यह नैसर्गिक बात है। आत्मा की भूख आत्मा ही बुझा सकती है। इसमें जरा भी असत्य नहीं है। मित्रता ने न जाने कितने मनुष्यों को गहन गर्त में गिरने से बचाया है। परन्तु मित्रों के चक्कर में पड़ कर न जाने कितने युवक बिगड़ भी गये हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम अपने प्रत्येक परिचित को मित्र न समझें। आज क्षण भर की पहचान को मित्रता मान कर चलने का फ़ैशन हो गया है। इसीसे हमें पग-पग पर ठोकरें खानी पड़ रही हैं। यदि हम तुलसीदास की उक्तियों को सामने रखें तो ये ठोकरें खाने से बचे रहें।

आज अर्थ का राज है। पैसा सब कुछ है। जो कुछ पैसे से खरीदा जा सकता है, उसी को प्रधानता मिलती है। इस अर्थवाद ने हमारे संबंधों को भी प्रभावित किया है। कौटुम्बिक और सामाजिक बंधन धीरे-धीरे शिथिल हो रहे हैं और मनुष्य धीरे-धीरे इकेली इकाई बना जा रहा है। सम्मिलित कुटुम्ब चलते दिखाई नहीं देते। ऐसी परिस्थिति में सच्चे मित्र के मिलने की आशा भी कहाँ है! जीवन की गति भी अब इतनी तीव्र हो गई है कि मनुष्य को उठने-बैठने और संस्कारी जीवन व्यतीत करने का समय ही नहीं मिलता। परन्तु फिर भी जीवन के किसी न किसी क्षेत्र में हम सब को काम करना पड़ता है और काम के लिए ही क्यों न हो, हमें बहुतों के संपर्क में आना पड़ता है। उन्हीं में से कुछ हमारे अधिक निकट चले आते हैं। उन्हें हम पूर्ण रूप से मित्र तो नहीं कह सकते—वे उतने अभिन्न, उतने विश्वासी, उतने बलिदानी नहीं हैं जितने कथा-कहानियों के मित्र, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आज इतने से ही संतोष करना पड़ता है। इन्हें ही हम मित्र मान लेते हैं। जीवन के आनंद को जो बढ़ा सके, हमारे दुःखों के क्षणों में जो हमारे आँसू पोंछ दे, हमारी हानि को अपनी हानि नहीं समझे तो उसमें प्रसन्न भी नहीं हो, ऐसा मित्र आज भी अभिनंदनीय है। वह दिन दूर नहीं है जब विज्ञान मनुष्य को सुविधा और अवकाश देगा और संस्कारी जीवन बिताने के लिए हमें साथी की आवश्यकता होगी। तब अर्थ ही सब कुछ नहीं रहेगा। ऐसे किसी सुदूर युग में हम फिर पौराणिक मित्रता को पुनर्जीवित कर सकेंगे। आज मित्र के नाम पर यदि ईमानदार सहयोगी ही मिल जाये तो भी बहुत है।

———

२४

उद्यम

१—परिभाषा—मलूकदास का एक दोहा और उसके वास्तविक अर्थ २—गीता और योग-सूत्र ३—पश्चिमी देशों की उन्नति का रहस्य ४—समाज और व्यक्ति के जीवन में उद्यम का स्थान ५—कुछ उदाहरण ६—उद्यम के कुछ रूप ७—उपसंहार

उद्यम कुछ करने का नाम है। जीवन-संग्राम में सफल होने के लिए हम जो चेष्टा करते हैं वही उद्यम है। उद्यम सफलता का बीज मंत्र है। अनुद्यम का फल असफलता है कितने ही साधु-संत भगवान पर आश्रय रख कर कुछ नहीं करते। बाबा मलूकदास ने कहा ही है—

अजगर करे न चाकरी पन्छी करे न काम
दास मलूका कह गये सब के दाता राम

फल यह होता है कि आज अनुद्यमी साधु-संत भारतीय गृहस्थ पर भार हैं और देशहित में बाधक हैं। गीता कर्मयोग का सब से बड़ा ग्रंथ है। उसमें भगवान श्री कृष्ण ने कहा है—

योगः कर्मसु कौशलम्

अर्थात् कर्म में कुशलता का नाम योग है। सारे ग्रंथ में निष्काम कर्म का उपदेश है। मनुष्य जीवन का अर्थ है अविराम कर्मठता। जीवन के साधारण से साधारण काम के लिए चेष्टा चाहिए, परिश्रम चाहिए, उद्यम चाहिए। बिना इसके जीवन-यापन के साधारण साधन भी सुलभ नहीं। सांस लेने

में भी तो परिश्रम होता है। इसीलिए उपनिषद् के महर्षि ने कहा है—

उत्तिष्ठ जाग्रत प्राप्य वरान्नि बोधियत्

(उठो, जागो, और जो प्राप्त नहीं है, उसे प्राप्त करो)

यदि हम इतिहास को ध्यान से पढ़ें तो हमें मालूम होगा कि जो देश आज उन्नति के शिखर पर हैं उनके निवासी कितने उद्यमी हैं। उन्होंने कितने बलिदान के बाद संसार के राष्ट्रों में यह पद प्राप्त किया है। औरों को छोड़ कर अंग्रेजों की ही बात लीजिए। उन्होंने इतने बड़े साम्राज्य स्थापित करने के लिए क्या न किया। जिन्हें भारतीय इतिहास का ज्ञान है वह जानते हैं कि क्लाइव, हेस्टिंग, डेल्होज़ी आदि पुरुषों ने अपनी आत्मा को बेच कर ही देशहित का सम्पादन किया। इनका इतिहास ही अंग्रेज़ी-विजय का इतिहास है। जापान राष्ट्र को ही' लीजिए। कुछ वर्ष पहले कोई इसका नाम भी नहीं जानता था। परन्तु आज उगते सूर्य के झंडे ने संसार में आतंक फैला रखा है। पिछले महायुद्ध में जापान ने संसार के सवश्रेष्ठ राष्ट्रों को खुला चैलेंज दे दिया है। वर्तमान जापान उन उद्यमी नवयुवकों की उपज है जिन्होंने पश्चिम में वर्षों रह कर उसके ज्ञान-विज्ञान से व्यावहारात्मक परिचय प्राप्त किया, जिन्होंने पश्चिम का इतना अच्छा अनु-करण किया कि स्वयं पश्चिम चकित हो गया, जो देशहित का बीड़ा उठाते थे तो असफल होने पर 'हरीकरी' (आत्महत्या) कर लेते थे।

जो बात राष्ट्रों और सभ्यताओं के लिए ठीक है वह समाज और व्यक्ति के लिए भी उतनी ही ठीक है। उद्यमी सिक्ख किसी भी देश में रहे, भूखा नहीं मरता। उसने दूर मारेशस, ब्रेज़िल और होनोलुलू जैसे स्थान पर पहुँच कर अपने उद्यम का डंका बजाया है। संसार के इतिहास के बनाने में महापुरुषों

का हाथ है, वह सतत उद्यमशील थे । वे कठिनाइयों से नहीं डरे। अमरीका के कवि लांगफ़ेलो ने उन्हीं के लिए लिखा है—महान पुरुषों के जीवन-चरित्र हमें याद दिलाते हैं कि हम अपने जीवन को उन्नत बना सकते हैं और समय के मरुस्थल पर अपने चरण-चिन्ह छोड़ जा सकते हैं। जब हम लोग सोते थे तब ये लोग दीपक के प्रकाश के नीचे रात-रात भर जागते रहे हैं।

चाहे धर्म-प्रचारक बुद्ध, ईसा, मुहम्मद और दयानन्द हों; चाहे राजनीतिक नेता श्री कृष्ण, चन्द्रगुप्त, तिलक, गांधी; चाहें बिड़ला और कोई बड़े बड़े व्यवसायी हों, हम इन सब के जीवन से उद्यम का पाठ ग्रहण कर सकते हैं। इसीलिए हमारा कहना है कि सतत उद्यमशील रहो। आज के काम को कल पर न टालो। कहा भी है—

काल करे सो आज करु, आज करे सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगो कब्ब॥

जो नवयुवक इस बात को जानता है और वर्तमान समय का सब से अच्छा उपयोग करता है, जो ब्रह्ममहूर्त में बिछौने पर पड़ा-पड़ा अँगड़ाइयाँ नहीं लेता, जो कठिनाइयों को अपने गले का हार बनाता है, वही सफलता प्राप्त करता है। जब अर्जुन इष्ट-मित्र, गुरुजन और बन्धुओं के मोह से हतज्ञान हो निश्चेष्ट हो गया, जब उसने गांडीव एक ओर धर दिया, तब भगवान कृष्ण ने जो कहा था वह आज भी सत्य है—

क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदय दौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप॥ ३॥

हमें चाहिए कि हाथ पर हाथ धर कर न बैठ जायें। अर्जुन की तरह प्रतिज्ञा करें—

—'न दैन्यं न पलायनं' (न बाधाओं के आगे सिर झुकायेंगे, न कर्तव्य-पथ से ही विचलित होंगे) ! हम किसी भी अवस्था में परमुखापेक्षी न बनें। जीवन के सम्बन्ध में इक़बाल ने कहा है : 'उस बाज़ की तरह जी जो ऊँची चोटियों पर अपना घर बनाता है और जो अपने डेनों की ताकत से हवा को गुंजायमान करता हुए अपने शिकार पर झपटता है।' बहुत दूर तक इबाक़ल की यह उक्ति ठीक ही जान पड़ती है। इस जीवन के प्रत्येक क्षण को हमें पकड़ना है। इस विषय में प्रमाद करना अपने व्यक्तित्व और अपनी प्रतिभा को नष्ट कर देना है। प्राचीनों ने कर्म को यज्ञ कहा है। ब्रह्मा, भी यज्ञ करते हैं। यज्ञ के बिना यह सृष्टि एक क्षण भी चल नहीं सकती। यदि हम कर्म को यज्ञ मानें और कर्म करके तपः-पूत होना मानव का महान कर्तव्य समझ लें, तो जीवन ही बदल जाये। हममें से प्रत्येक यदि अपनी प्रतिभा का सर्वांश ससार को दे सके, तो ससार में किस बात की कमी रहे।

गांधी, जवाहर, बुद्ध, लेनिन, कार्लमार्क्स—किसी भी महापुरुष को लो, कर्म उनके जीवन का अटल व्रत मिलेगा। कर्म के द्वारा ही वह इतने महान हुए। इनमें ने प्रत्येक से अपने एक जीवन में बीसियों मनुष्यों का जीवन जिया। गांधीजी रातके २½ बजे उठ जाते थे। उसी समय से उनका दैनिक कार्य-क्रम आरंभ हो जाता था। अगले दिन शाम के साढ़े पाँच बजे तक उनका कार्य-क्रम चलता रहता था। इस बीच में वह केवल एक घंटे का विश्राम लेते। उनके ३०-३२ वर्षों के अथक परिश्रम के कारण ही यह देश स्वतन्त्र हो सका। जवाहरलाल तो आँधी का जीवन जिये हैं। उन्होंने इतनी बड़ी-बड़ी और इतनी तेज़ यात्राएँ की हैं कि सुन कर आश्चर्य होता है। अगली पीढ़ियाँ आश्चर्य करेंगी कि इस बीसवीं शताब्दी में भी ऐसे इस्पाती

व्यक्तित्व होते थे। बुद्ध, दयानन्द, मुहम्मद, लेनिन, सभी का जीवन अदम्य उत्साह और अथक उद्यम की कहानी है। यह पहला मन्त्र है जिसे हमारे तरुणवर्ग को समझ लेना होगा।

उद्यम के अनेक रूप हैं। मूल मन्त्र यह है कि जीवन ने जिस क्षेत्र में तुम्हें ला पटका हो, उस क्षेत्र में सबसे अच्छा, सबसे उत्साहपूर्ण कार्य करो। बराबर देखते रहो कि कहीं प्रमाद तो नहीं हो रहा कहीं तुम्हारा श्रम व्यर्थ तो नहीं जा रहा। ऐसा क्षण-क्षण का हिसाब रखनेवाला व्यक्ति ही संसार को जीत सकता है। महान् पुरुषों ने जो किया उसे जान कर हम चकित होते हैं। यदि हम भी अपने प्रत्येक क्षण का हिसाब रख सकें तो चकित होने की बात ज़रा भी नहीं पड़ेगी। अपने ढङ्ग पर अपने निश्चित क्षेत्र में हम जो करेंगे वह दूसरे को आश्चर्य-चकित कर देगा।

संक्षेप में, श्रम को यदि सब यज्ञ समझें तभी संसार का उद्धार सम्भव है। केवल बौद्धिक श्रम या केवल दैहिक श्रम की बात उठाना व्यर्थ है। वस्तुतः दोनों प्रकार का श्रम प्रत्येक व्यक्ति के लिए साध्य होना चाहिए। गाँधीजी ने ठीक ही लिखा है—"बौद्धिक श्रम तो आत्मा के प्रीत्यर्थ है, और स्वतः संतोष-रूप है। उसमें पारिश्रमिक मिलने की इच्छा नहीं करनी चाहिए। उस आदर्श अवस्था में डाक्टर, वकील आदि समाज के हित के लिए ही काम करेंगे, अपने लिए नहीं। शारीरिक श्रम के नियम पर चलने से समाज में एक शांतिमयी क्रांति उत्पन्न होगी। जीवन-संग्राम के स्थान पर पारस्परिक सेवा की प्रति-स्पर्धा स्थापित करने में मनुष्य की विजय होगी। पाशविक नियम का स्थान मानवी नियम ले लेगा।" श्रम—यज्ञ के द्वारा

मानवी जीवन को स्वर्ग बनाने का वह स्वप्न कभी तो सत्य ही होगा। इसी विश्वास को लेकर हम उद्यमी बनें। इसीसे आज का कवि श्रम के महत्व के गीत गाता हुआ नहीं थकता—

ठङ्-ठङ्—ठन!
लौह नाद से ठोंक पीट घन
निर्मित करता श्रमिकों का मन,
ठङ्—ठङ्—ठन!
'कर्मक्लिष्ट मानव—भव-जीवन,
श्रम ही जग का शिल्पि चिरंतन,
कठिन सत्य जीवन का क्षण-क्षण,'
घोषित करता घन वज्र-स्वन—
'व्यर्थ विचारों का संघर्षण,
अविरत श्रम ही जीवन-साधन,
लौह काष्ठमय, रक्तमांसमय,
वस्तुरूप ही सत्य चिरंतन!

और इसी से वह श्रमजीवीवर्ग को ही मानव-प्रगति का सबसे महत्वपूर्ण अंग मानता है। श्रमजीवी की प्रशंसा करता हुआ वह कहता है :

लोकक्रांति का अग्रदूत, वर वीर जनादृत,
नव्य सभ्यता का उन्नायक, शासक, शासित।
चिर पवित्र वह: भय, अन्याय, घृणा से पालित,
जीवन का शिल्पी,—पावन श्रम से प्रक्षालित!

परन्तु नवयुग के इस महान सत्य को कितनों ने समझा है? आधुनिक युग कलियुग कहलाता है परन्तु उसे 'कलयुग' कहना ही

अधिक उपयुक्त होगा। इस 'कल-युग' का जीवन-दर्शन है कर्म। तभी तो कवि कहता है—

प्रथम कर्म, कहता जनदर्शन—
पीछे रे सिद्धांत, मन, वचन।

यदि प्रत्येक मनुष्य कर्म की अनिवार्यता को समझ ले और अपने अधिकार की बात उठाने के पहले अपने कर्म की माप भी करले तो फिर इस संसार में सब मनुष्य समान रूप से सुखो क्यों न हों? श्रम के असंतुलित विभाजन के कारण ही पूँजीवाद असफल हो रहा है और साम्यवाद की आवाज़ उठ रही है। साम्यवाद का अर्थ है अर्थ का संतुलित विभाजन, परन्तु अर्थ तो कर्म का फल है और इसलिए साम्यवाद का अर्थ होना चाहिए श्रम का संतुलित विभाजन। प्रत्येक व्यक्ति अपनी शक्तियों का पूरा-पूरा उपयोग करे और राष्ट्र के प्रत्येक नागरिक को अन्न-वस्त्र-शिक्षा इत्यादि की सुविधाएँ समान रूप से प्राप्त हों। तभी इस पृथ्वी पर रामराज्य स्थापित हो सकता है। और किसी भी नींव पर नई संस्कृति का महल उठाना असम्भव है।

२५

सत्संगति

१—भूमिका २—जीवन के प्रारंभिक दिनों में सत्संगति का महत्व ३—मित्र और साथी ४—निंदा-स्तुति के प्रति संतों का दृष्टिकोण ५—सच्चा साथी मिलना मनुष्य का परम सौभाग्य ६—पुस्तकों की संगति

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह अकेला नहीं रह सकता। कुटुम्ब का तो कुछ कहना नहीं। उनमें तो उसे रहना ही है, परन्तु उसे मित्रों और परिचितों को भी साथ लेकर चलना पड़ता है। इन सब की अच्छाई-बुराई पर उसका भविष्य निर्भर है। यदि ये अच्छे स्वभाव के हुए, विचारशील हुए सहृदय और परिष्कृत रुचि वाले हुए तो ठीक, नहीं तो भगवान ही मालिक है। एक फ़ारसी कहावत है—

कुनद हम जिन्स बा हम जिन्स परवज़
कबूतर वा कबूतर बाज़ वा बाज़

(एक से पक्षी साथ-साथ उड़ते है। कबूतर कबूतर के साथ उड़ता है, बाज़ बाज़ के साथ)। यह बात बहुत हद तक ठीक है। जैसा स्वभाव आदमी का होता है, वैसा ही साथी वह ढूँढ़ता है। परन्तु यह भी ग़लत नहीं कि संगति का स्वभाव पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। मलय की सुगंध से साधारण लकड़ी भी चन्दन हो जाती है और भेड़िए की माँद में पला आदमी का बच्चा भेड़िया ही निकलता है।

इसीलिए सत्संगति पर बल दिया गया है और कुसंगति के

दोष गिनाए गये हैं। संतों और महात्माओं के काव्य इस संदेश से भरे पड़े है। कबीर ने कहा है—

संगत अच्छी साधु की हरे और की व्याधि
संगत बुरी असाधु की आठो पहर उपाधि

तुलसी ने साधु और असाधुओं पर बहुत कुछ कहा है। संतों के लक्षण हैं :

षट विकार जित अनघ अकामा। अचल अकिंचन सुचि सुखधामा॥
अमितबोध अनीह मितभोगी। सत्यसार कवि कोविद जोगी॥
सावधान मानद मनहीना। धीर धर्म गति परम प्रवीना॥
निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। पर गुन सुनत अधिक हरषाहीं॥
सम सीतल नहि त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती॥

और असंतों के संबंध में तुलसी का मत है :—

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहुँ परी निधि पाई॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥
बयरु सब अकारन काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥
झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥

हमारे संगी-साथी उस यंत्र की तरह हैं जो यह बता देता है कि हवा किस ओर चल रही है। सच्चे, ईमानदार और महनती आदमी इसी स्वभाव के आदमियों में बैठते हैं। खिलाड़ी लड़का खिलाड़ी लड़के की संगति चाहेगा। इसमें अपवाद हैं, परन्तु बहुत कम। साधारण नियम यही है। दुनिया हमारे संगी-साथियों के स्वभाव से हमें जाँचती है। यदि हमारे साथी बदमाश हैं तो कल हमारे ऊपर भी उँगली उठने लगेगी। इसीलिए हमें सोच-विचार कर चलना है। सद्मार्ग पर चलना छुरे की धार पर चलना है। ज़रा इधर-उधर हुए और गये।

वैसे तो सारे जीवन में सत्सगति की जरूरत है परन्तु कुमारावस्था और युवावस्था में अच्छी संगति अमृत है और कुसंगति विष। ऐसे कितने ही उदाहरण मिलेंगे जिनमें कई युवा बुरे मित्रों के चक्कर में पड़ कर सारे कुकर्म सीख गये और सदाचार से हाथ धो बैठे। कुमार होते होते कुछ हमारे परिचित बन जाते हैं। उनमें से कुछ कालान्तर में हमारे मित्र बन जाते हैं। आज दोस्ती बनी, कल दोस्ती छूटी। यह वह नाजुक समय है जब मनोवृत्तियाँ अपरिपक्व होती है और कोई भी बुरी आदत इतनी शीघ्रता से जड़ पकड़ जाती है कि स्वयं हमें आश्चर्य होता है। अल्पावस्था में मनुष्य के सुन्दर मनोभावों की दशा छुई-मुई की तरह होती है। जरा से स्पर्श पाते ही वे मुरझा जाते हैं। इसलिए माता-पिता और गुरुजनों का कर्तव्य है कि इस कच्ची आयु में नियंत्रण करें। उन्हें बुरी संगति से बचाएँ।

मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है कि वह अपने चारों ओर के वातावरण से पूर्णतयः प्रभावित होता है। जो प्रलोभन हमें पग पग पर घेरे हुए हैं उनसे बचने के लिये लोहे का हृदय चाहिये। हो सकता है कि हम धारा में बह जायें। तब क्या यह अच्छा नहीं कि हम प्रलोभन से दूर रहें? धार में पड़ें ही नहीं? जुआरियों में रह कर हम कब तक जुआ नहीं खेलेंगे? इसी से कहते हैं कि अच्छी संगति में रहो। जिसके पास उठते-बैठते हो उसके सम्बन्ध में भली-भाँति जान लो। कैसा आदमी है? क्या करता है? उसमें कौन से दुर्गुण हैं? जब सब प्रकार संतुष्ट हो जाओ तो उसे अपने हृदय में स्थान दो। सच तो यह है कि ठीक-ठोक साथी का चुनाव बहुत कठिन है और कभी २ इसमें बड़ी बड़ी भूलें हो जाती हैं। अनेक बातें

हैं जो हमें किसी मनुष्य की ओर आकर्षित करती हैं। परन्तु यह असंभव है कि देर-सवेर हम अपने साथियों की प्रवृत्तियों से परिचित नहीं हो जायें। इस बीच में यदि हमें यह पता लगता है कि हमारा कोई संगी-साथी ठीक नहीं—कि उसकी संगति अवांछनीय है तो हमें उसे 'अलविदा' कहते हुए संकोच नहीं होना चाहिये। साथी आते हैं और चले जाते हैं, परन्तु उनकी दुष्प्रवृत्तियाँ हमें कुछ इस तरह पकड़ लेती हैं कि उनसे छुटकारा पाना असंभव-सा हो जाता है। कभी २ कुछ युवक निंदा के डर से ऐसा करने से विरत रहते हैं, परन्तु शीघ्र ही वह अपने मित्रों में इतने उलझ जाते हैं कि उन्हें छोड़ना असंभव हो जाता है। वह उन्हें भी अपने साथ ले डूबते हैं। निंदा बुरी चीज़ नहीं है। कबीर जैसे संत ने निंदक की बड़ी प्रशंसा की है :

निंदउ निंदउ सो कउ लोगु निंदउ।
निंदा जन कउ खरी पिआरी।
निंदा बापु निंदा महतारी ॥
निंदा होइ त बैकुंठि जाइऔ।
नामु पदारथ मनहिं बसाईऔ ॥
रिदै सुध जउ निंदा होइ।
हमरे कपरे निंदकु धोइ ॥
निंदा करै सु हमरा मीतु।
निंदक माहि हमारा चीतु ॥
निंदकु सो जो निंदा होरै।
हमरा जीवनु निंदकु लोरै ॥

यदि हम निंदा के प्रति ऐसा दृष्टिकोण रखें तो कदाचित्

हमें सँभलते देर नहीं लगेगी। वास्तव में मनुष्य बड़ा दुर्बल प्राणी है। उसके चारों ओर का वातावरण उसे दबोच लेता है। एक बार भी मनुष्य किसी प्रलोभन में फँस जाये तो उसके भागने के लिए बड़ी निष्ठा चाहिए, बड़ी दृढ़ इच्छाशक्ति चाहिए। सैकड़ों युवक ऐसे हैं जो प्रलोभनों से डट कर लड़ नहीं सकते। प्रलोभन उनपर विजय पा जाते हैं। धीरे-धीरे उनका जीवन नष्ट हो जाता है। इसलिए यह अच्छा है कि प्रलोभन को दूर से नमस्कार कर दो। बुरे मित्रों और बुरे साथियों से बिदा ले लो। उनके साथ रह कर कदाचित् तुम प्रलोभनों से बच न सको। संभव है, तुममें उतनी दृढ़ इच्छा ही न हो। इससे क्या यह अच्छा न हो कि तुम अच्छे लोगों के साथ उठो बैठो।

परन्तु प्रत्येक मनुष्य का ऐसा सौभाग्य तो होता नहीं कि उसे सत्संगति मिल जाये। फिर अपनी रुचि के अनुसार अपने सङ्गी-साथी कदाचित् ढूँढ़ने पर भी सरलता से न मिलें। परन्तु एक बड़ा साधन हमारे पास है। वह है पुस्तकालय। पुस्तकों की संगति सबसे सुन्दर संगति है। धर्म, दर्शन, ज्ञान-विज्ञान, कथा-कहानी, काव्य—कुछ उठा लो। संसार में सैकड़ों कवि, लेखक और कलाकार हो गये हैं। पुस्तकों द्वारा उनकी संगति हमें मिल जाती है। देश-काल इसमें किंचित् भी बाधा डाल नहीं सकते। ऋग्वेद और अवस्ता के ऋषियों से लेकर आज के लेखकों कवियों और तत्ववेत्ताओं तक सब आप के साथ हैं। कैसी महान संगति है! ऐसी संगति से सैकड़ों का जीवन बदल गया है। शोक—कि आज हमारे तरुण महान पुरुषों इस संगति का लाभ उठाना पसंद नहीं करते। जब तक विद्यालयों में पढ़ते हैं, तब तक पुस्तकों की

संगति उन्हें प्यारी है। जहाँ विद्यालय को छोड़ा, वहाँ ऐसे वीतराग हो गये जैसे संसार में कोई भी कवि, लेखक और उपन्यासकार ऐसा नहीं है जिससे साथ वह दो घण्टे काटना पसंद करेंगे।

२६

अच्छी आदतें

१—अच्छी आदतें पढ़ने-लिखने से भी बड़ी चीज़ २—लोक-व्यवहार का क्षेत्र ३—रामचरण का उदाहरण ४—कुछ अन्य उदाहरण ५—अच्छी आदतें कैसे सीखो ६—कुछ अच्छी आदतें ७—मानव-जीवन के सम्बंध में तुम्हारा दृष्टिकोण क्या हो ?

तुम पढ़ते-लिखते हो। पढ़ना-लिखना बुरी चीज़ नहीं है। परन्तु लिखने से भी एक बड़ी चीज़ है। वह चीज़ है अच्छी आदत। पढ़ने लिखने से तुम हीरे बन जाते हो परन्तु गोलकुण्डा की हीरों की खान से निकला हुआ बे-तराशा हीरा किस नाम का ? अच्छी आदतें हीरे की चमक की तरह आँखों में उज्ज्वलता भर देती हैं। इससे पढ़ो-लिखो, परंतु पढ़ने-लिखने से साथ अच्छी आदतें भी सीखो।

छोटे-बड़ों के प्रति तुम्हारा व्यवहार कैसा है ? मित्रों से तुम कैसे हँसते-बोलते हो ? पड़ोसियों का कितना ध्यान रखते हो ? उठते-बैठते कैसे हो ?—ऐसे न जाने कितने प्रश्न हमारे किये जा सकते हैं। यह लोक-व्यवहार पुस्तकें नहीं देंगी। चलते-फिरते इसे समेटना होगा।

रामचरण सुन्दर स्वस्थ तरुण युवक था। फुदकता हुआ चलता। काम से उसने कभी भी जी नहीं चुराया। उसे लगता, वह पीछे रहने को जन्मा ही नहीं। बूढ़ों और रोगियों में उसे

चिढ़ थी—"ये भी कोई लोग हैं। छि:, कैसे धीरे चलते हैं। डरते हुए धरती पर पैर रखते हैं। जैसे पृथ्वी जल रही हो।" एक दिन रामचरण खाट पर पड़ गया। कई दिन से छाती में दर्द हो रहा था। उसने ध्यान ही नहीं दिया था। बुखार चढ़ा, फिर निमोनिया हो गया। महीने भर में छुट्टी मिली। जब अच्छा हो गया तो बाहर निकला, परन्तु अब चला नहीं जाता। जैसे प्राण निकल गये हों। धीरे धीरे चलता। जीवन का बोझा ढ़ोये नहीं ढोया जाता। स्कूल से घर आता तो लगता, न जाने कितने मील चल आया। किसी स्वस्थ तगड़े साथी को झपट कर चलते देखता तो उसे आश्चर्य होता। वह आप बड़ी शीघ्रता से थक जाता। अब उसे बूढ़ों और रोगियों से प्रेम हो गया। ये भी तो उसी तरह निर्बल हैं। कोई बूढ़ा खड़ा होता। उसे अपनी जगह पर बिठा देता। अँधों-लूलों-लँगड़ों को वह एक बड़ा सहारा बन गया। वह कहता—मैं तो फिर भला-चंगा हो जाऊँगा, वे विचारे तो आयु भर ऐसे ही रहेंगे।

तुम स्कूल से साइकिल पर घर लौट रहे हो और तुम्हारे रास्ते में कोई बूढ़ा या अन्धा आ जाता है। उसे बुरा-भला मत कहो। यह बूढ़ा कभी तुम्हारी ही तरह काम का नागरिक था। उसने जीवन भर अपने काम को सँभाला। अब उसमें शक्ति नहीं रही। परन्तु इसमें उसका क्या दोष? जब तुम बूढ़े हो जाओगे और लड़के तुम्हें इसी तरह गाली देंगे तो क्या तुम्हें दु:ख नहीं होगा? जरा सोचो तो। जीवन एक बड़ी परीक्षा है। उसमें उज्ज्वलता कम है, ताप अधिक है। तुम इस ताप को अधिक क्यों बढ़ाओ? एक मीठा शब्द, एक मीठी दृष्टि, एक मीठा-सा काम संसार को सुखी बना सकता है।

अच्छी आदतें सीखो। अच्छी आदतों वाले मनुष्य ही इस

संसार को जीने योग्य बनाते हैं। जब कुछ बोलो तो विनम्रता से बोलो, साफ़-साफ़ बोलो। ऐसा बोलो कि दूसरा ठीक-ठीक समझ सके। किसी से कुछ कहना और इतने धीरे से कहना कि तुम्हारे शब्द होंठों में रह जायें—यह बहुत बुरी बात है। ईश्वर ने तुम्हें वाणी दी है। उसका पूरा-पूरा प्रयोग तुम क्यों नहीं करो? तुम्हारी बातचीत में कभी भी कटुता न आनी चाहिये। किसी से भेंट हो तो उसे 'नमस्ते' करो। उससे जयहिन्द या 'जय राम जी' करो। कोई कुछ पूछे तो उचित उत्तर दो। यह नहीं कि लठ मारो। किसी ने कहा—'कहो भाई जयदेव, कैसे हो?' 'अभी जी रहा हूँ।' यह भी कोई उत्तर हुआ। हो सकता है किसी कारण से तुम दुखी हो और पूछने वाला तुम्हारा मित्र ही हो, परन्तु यह भी कोई कहने की बात हुई। तुम्हारी बात में कड़वाहट क्यों आये? किसी ने पूछा—तुम डाकखाने तो नहीं जा रहे हो? वह शायद यह चाहता है कि तुम उसके लिए थोड़ा-सा कष्ट करो, परन्तु तुम साफ़ उत्तर देते हो—'नहीं'। अपने रास्ते से हट कर ज़रा डाकखाने की तरफ चले जाते तो तुम्हारा कुछ नहीं बिगड़ता और कदाचित् तुम उधर जा भी रहे हो परन्तु उसकी कृतज्ञता लेना तुम नहीं चाहते। जानते हो, जीवन इन्हीं छोटी-छोटी बातों से बना है।

कई मित्रों के साथ हो तो सबको बोलने का मौक़ा दो। बराबर तुम्हीं बोलते जाओ तो यह अशिष्टता होगी। कुछ ऐसा भी संभव है, तुम्हारी बात औरों को अच्छी नहीं लग रही हो और वे भलेमानुष कुछ कह नहीं पाते हों। यदि तुम दो हो तो आधा समय तो दूसरे को दो ही। अपनी बात कह कर चुप हो जाओ। फिर यदि तुम्हारे मित्र को कुछ भी कहना नहीं है तो स्पष्ट है कि विषय उसे रुचा नहीं या वह उस बात को

आगे बढ़ाना नहीं चाहता। इसी तरह की छोटी-छोटी बातें ध्यान देने योग्य हैं। पीठ पीछे किसी की बुराई मत करो। तुम समझते हो, जिसकी बुराई कर रहे हो, वह तो सुन ही नहीं रहा है। नहीं जी, वह सुन रहा है। दीवार के भी कान होते हैं। लोग नमक-मिर्च लगा कर तुम्हारी सारी शिकायतें उसके पास पहुँचा देंगे। फिर तुम कैसे बचोगे? क्या सफ़ाई दोगे?

जीवन में सबसे अधिक आश्चर्य की बात यह है कि हम ज़रा-ज़रा भी बातों पर झगड़ पड़ते हैं। हमारे तर्क-वितर्क इतने कड़े होते हैं कि उनमें दूसरे के लिए ज़रा भी स्थान नहीं होता। सुई की नोक के बराबर पृथ्वी भी हम दूसरे को देने को तैयार नहीं। फिर जीवन महाभारत का युद्ध न बन जाये, तो क्या बन जाये? तर्क-वितर्क करते हुए यह समझ लो कि सच बहुत बड़ी चीज़ है। कोई एक मनुष्य सच्चाई तक पूरा-पूरा नहीं पहुँच सकता। हम सब सत्य का केवल एक अंश देख पाते हैं। फिर झगड़ें क्यों? हमें समझना चाहिये कि हम इस पृथ्वी पर बसने वाले मनुष्य इतने महत्वपूर्ण नहीं हैं जितना हम समझे हुए हैं। हमें कंधों से कंधा सटा कर चलना है। एक दूसरे की सहायता करनी है। संसार में जहां कहीं भी कोई बूढ़ा, रोगी या दुःखी है, वह हमारा भाई है। यदि प्रत्येक मनुष्य यह समझ ले कि इस संसार में हमें एक ही बार आना है, एक ही बार मनुष्य-देह पाकर उसे दूसरों की सेवा करने का अवसर मिलता है, तो यह जीवन स्वर्ग ही हो जाये।

ऋग्वेद-काल की संस्कृति

ऋग्वेद का प्रधान विषय धर्म है, परन्तु ऐसे अनेक अन्य प्रसंग भी उसमें हैं जिसके आधार पर हम उस काल की एक निश्चित रूपरेखा बना सकते हैं। धर्म भारतीय संस्कृति का प्रधान अंग है, अतः उसके संबंध में हमें जितना अधिक ज्ञान मिल सके उतना ठीक है। जिस रूप में हिन्दू धर्म आज हमारे सामने उपस्थित है, उस रूप में हम उस काल की धर्मभावना की कोई सुनिश्चित रेखा नहीं बना सकते। परन्तु इसमें संदेह नहीं कि ऋग्वेद की धर्म-भावना हमारे अपने युग की धर्म-भावना से भिन्न है। उदाहरणार्थ, ब्रह्मा, विष्णु और महेश की उपासना वेदों में नहीं है। रामावतार और कृष्णावतार तो मध्य युग में वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ माने जाने लगे हैं। वेदों म उनका कोई चिन्ह नहीं मिलता। रामकथा के साथ संबंधित कुछ कथायें ऋग्वेद में हैं, परन्तु वे कथा की अपेक्षा रूपक अधिक हैं। वस्तुतः ऋग्वेद काल में देवतावाद की प्रधानता थी। भिन्न प्रकार के प्राकृतिक देवताओं की पूजा होती थी।

ऋग्वेद में इन्हीं की उपासना के मन्त्र संग्रहीत हैं । लोकों के अनुसार ये देवता तीन श्रेणियों के अंतर्गत आते हैं; द्यु लोक या आकाश के देवता, अन्तरिक्ष के देवता और पृथ्वी के देवता। द्यु लाक के देवता ऋग्वेद में अधिक प्रधानता नहीं पाते। इनमें से केवल तीन ही विशेष महत्वपूर्ण हैं—वरुण, उषा और विष्णु। पुराणों में वरुण जलदेव माने गये हैं किन्तु ऋग्वेद में वरुण उस शक्तिमय देव को कहते हैं जो संपूर्ण ब्रह्माण्ड को परिवेष्ठित किये हुए है। वरुण अत्यंत शक्तिशाली और शांत देवता हैं और वह नैतिक आदर्शों के प्रतीक माने जाते हैं। इनके विषय में बहुत अधिक सूक्त तो नहीं हैं, परन्तु महत्व इन्हें अधिक दिया गया है। उषा का वर्णन तो बहुत से सूक्तों में किया गया है और सूक्तों को दृष्टि से उषा मुख्य देवता है। सूक्तों की संख्या का विचार करते हुए विष्णु एक गौण देवता हैं। जिस रूप में आज हम विष्णु से परिचित हैं, उसका विकास बहुत बाद में हुआ। ऋग्वेद में 'विष्णु' शब्द सूर्य के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वामनावतार विष्णु (=सूर्य) द्यु लोक को तीन डगों में नाप लेते हैं।

अन्तरिक्ष के देवताओं में इन्द्र, मरुत और रुद्र अधिक प्रसिद्ध हैं। समस्त देवता-मंडल में इन्द्र सर्व-प्रधान हैं, परन्तु ऋग्वेद में इन्द्र का पौराणिक रूप हमें नहीं मिलता। वहाँ इन्द्र वर्षा लाने वाली शक्ति के अधिनायक हैं। वे आर्यों के सबसे प्रिय देवता हैं। मरुत वायु के देवता हैं और रुद्र प्रकृति के भयंकर रूप के प्रतीक हैं। आँधी, प्रलय, भूकंप आदि भयंकर घटनायें प्रकृति का रौद्र रूप ही हैं। शिव रुद्र का विशेष नाम अथवा नामांतर है क्योंकि भयंकर कांड के अन्त में शांति अथवा कल्याण का समावेश होता है। प्रकृति के विप्लवों के

बाद जो कल्याणमयी शांति दिखलाई पड़ती है वही अन्ततोगत्वा रुद्र की शिव (कल्याणमयी) मूर्ति ही है।

पृथ्वी के देवताओं में पृथ्वी, अग्नि और सोम हैं। इनमें अग्नि प्रधान है। सोम का अर्थ कहीं जल, कहीं मदिरा, कही कहीं चन्द्रमा हो गया है, परन्तु साधारणतः सोम जल के नाम में ही प्रयुक्त हुआ है। इन सब देवताओं के मूल में प्रकृति की शक्तियाँ हैं। वैदिक जन के लिए इनमें से प्रत्येक देवता समान रूप से महत्वपूर्ण था। मैक्समूलर ने इस धर्मभाव को सर्व दैवतवाद का नाम दिया है। इसका तात्पर्य यह है कि जिस देवता की उपासना की जाये, वह सर्वशक्तिमान माना जाये। इसी प्रकार प्रत्येक देवता को सर्वशक्तिमान का एक रूप या परम शक्ति मान कर उसमें ईश्वर का अविस्तत्व मान लिया जाय। उदाहरण के लिए, जब इन्द्र की उपासना की जाय तो इन्द्र की शक्ति को ही सर्वपरि माना जाये। फिर जब अग्नि की उपासना कीजिये, तो वही सर्वश्रेष्ठ शक्ति रहे। वास्तव में प्रधान शक्ति तो एक ही है और भिन्न-भिन्न देवता उसी एक शक्ति के अलग-अलग रूप हैं।

ऋग्वेद के १०वें मंडल के सूक्तों से यह स्पष्ट है कि वैदिक ऋषि एक प्रधान शक्ति का अनुभव कर चुके थे, जिसके द्वारा सभी शक्तियाँ परिचालित होती हैं। इस प्रकार सर्वदेवतावाद ने धीरे-धीरे एकेश्वरवाद का रूप धारण कर लिया था।

ऋग्वेद में आत्मा की सत्ता भी मानी गई है। अनेक आत्माएँ परमात्मा के ही रूपांतर या अंश-मात्र हैं। इस प्रकार-अद्वैतवाद की प्रवृत्ति भी हमें संहिताओं में मिल जाती है।

आधे पुराने पुरानहि मानें,
आधे भए किरिस्तान हो दुइरंगी।
क्या तो गदहा को चना चढ़ावें,
कि होई दयानद जांय, हो दुइरंगी।
क्या तो पढ़े कैथी को कि
होइ वरिस्टर धांय, हो दुइरंगी।

राममोहन राय और दयानंद सरीखे समाजनेताओं ने इस सांस्कृतिक संघर्ष से देश को उबारने का प्रयत्न किया और एक सीमा तक वे सफल भी हुए। राममोहन राय ने उपनिषदों के ब्रह्मवाद को अपना मेरुदंड बनाया और दयानंद ने वेदों को। परन्तु भारतीय संस्कृति की नई समन्वयात्मक रूपरेखा पहली बार गांधीजी में ही दिखलाई पड़ी। उन्होंने पश्चिमी सभ्यता के बाढ़ को दोनों हाथों से रोक दिया। भारत आत्म-निष्ठा को भूल कर पश्चिम की बुद्धि की लुकाठी लेकर चल रहा था। गाँधीजी ने आवाज़ लगाई—'यूरोप ने चार दिन की दुनियावी ज़िन्दगी के लिए अपनी आत्मा को बेच दिया है।' परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि गाँधीजी भारत को अध्यात्म के मार्ग पर ले जा रहे थे या उन्होंने किसी नये मार्ग की खोज की थी। गाँधीजी देश की संस्कृति के अमर तत्त्वों से परिचित थे और वे देश के जीवन में इन्हीं अमर तत्त्वों की स्थापना चाहते थे। उन्होंने कहा भी है—'भारत के प्रति मेरी इतनी भक्ति इसलिए है कि मेरे पास जो कुछ है, वह सब मैंने उसीसे पाया है। मेरा पक्का विश्वास है कि उसे दुनिया को एक संदेश देना है। उसे अंधा होकर यूरोप की नक़ल नहीं करनी है।' पांच हज़ार वर्ष पुराने इस देश के पास भी बहुत कुछ था, परन्तु उसे भुला दिया गया था। सोने के टुकड़े को छोड़-

कर हम कांच के टुकड़ों की चमक-दमक पर मोहित हो गये थे। धीरे २ हमने अपना गौरव पहचाना। आज हम जान गये हैं कि हमें नई संस्कृति का शिलान्यास करते समय प्राचीन मुद्राओं को ही नवीन मूल्यों से अंकित करना होगा। एकदम नवीन सिक्के के फेर में हम नहीं पड़ेंगे। पश्चिम को हम पूर्णतय: अस्वीकार भी नहीं कर सकते परन्तु अपने पूर्वी-पन को छोड़कर हम कहाँ जायेंगे ?

भारतीय संस्कृति की एक संपूर्ण झलक हमें वेदों और उपनिषदों में मिल जाती है। ईशावास्य एक छोटा-सा उपनिषद् है। उसी को लें। उसमें मनुष्य के जीवन के लिए एक संपूर्ण संदेश सन्निहित है। मनुष्य इस सारे जड़-चेतन स्वरूप दृश्य-मान जगत को ईश्वर से ओतप्रोत जाने। यह जानते हुए भी उसे छोड़कर भागे नहीं। ईश्वर के समक्ष प्रत्येक क्षण रहते हुए भी आसक्तिहीन (निष्काम भाव से) कर्म करे, समस्त सुखों को भोगे, शत वर्ष आयु की कामना करे। यज्ञार्थ (ईश्व-रार्थ) कर्म करने से वह कर्म में लिप्त नहीं होगा। इस तरह वह कर्म के बंधन से मुक्त हो जायगा। ब्रह्मज्ञान ही एक मात्र ज्ञान है, विद्या है, शेष अविद्या। 'तत्त्वमसि' की अनुभूति होने पर मनुष्य 'अमृतम्' का अनुभव करता है। ब्रह्म की अलौकिकता और विरोधी धर्माश्रयता को जानकर मनुष्य संशयों से ऊपर उठ जायेगा। वह सब भूतों में अपनी ही आत्मा का प्रसार देखेगा। वह राग-द्वेष से बहुत ऊपर उठ जायेगा। अन्य देवों को छोड़ कर केवल इसी ब्रह्मभाव की अनुभूति को सत्य माने।

ंतु यह केवल साधना का विषय नहीं है। इसके लिये उसे ब्रह्म से प्रार्थी होना होगा। इसलिए 'ईशावास्य' के अन्तिम

चार श्लोकों में साधक प्रार्थी है। वह जानता है कि वह स्वयं तेजोमय चिन्मय परम शक्ति है, परन्तु सत्य के इस तेज को स्वयं ब्रह्म के नानात्व ने ढक लिया है। ब्रह्म की अनुकंपा से ही यह नानात्व-भाव दूर होगा और एकत्व की अनुभूति होगी। देह को भस्मांत और प्राण को अमृतम् (अविनाशी) मानकर, ब्रह्मस्वरूप मानकर ही साधक बंधनों को तोड़ पाता है।

यह स्पष्ट है कि हमारी संस्कृति का आधार नैतिक और आध्यात्मिक है। देह की नश्वरता और ईश्वर की सर्वव्यापकता की भावना से यही आधार दृढ़ होता है। परन्तु हमारी संस्कृति न पलायनवादी है, न घोर आध्यात्मिक। श्रुति कहती है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि
जिजीविषेच्छतं समा

'काम करते हुए शतवर्ष जीवित रहने की इच्छा कर' वह त्यागपूर्वक भोग की आज्ञा देती है। इस प्रकार उसमें भौतिक जीवन को नैतिक और आध्यात्मपरक बना दिया गया है। वह न अतिकाम से दूषित है, न वैराग्य से। गीता हमारी संस्कृति का मेरुदंड है और उसमें कर्मण्यता, साहस और अध्यवसाय के मंत्र भरे पड़े हैं। सद्गृहस्थ का आदर्श हमारा सबसे बड़ा आदर्श है। गृहस्थी सन्यासी से भी बड़ा है, क्योंकि वह सन्यासी का भी पोषण करता है।

परन्तु हमारी संस्कृति की भित्ति में ईश्वरनिष्ठा देखकर ही कुछ लोग उसे संकीर्ण समझने का भ्रम करते हैं। यह सच है कि ईश्वरनिष्ठा वह लंगर है जिसके सहारे हमारा जीवन-

पोत भयंकर तूफान के समय में भी लक्ष्यभ्रष्ट नहीं हो पाता। जहाँ मनुष्य का अपना विश्वास डूब जाता है, वहाँ भी ईश्वर-विश्वास उसे उतराये रखता है। परन्तु इस ईश्वरनिष्ठा में ने हमें और भी अनेक मूलाधार दिये हैं। दया, क्षमा, सत्य, अहिंसा, परोपकार, धर्म, सार्वजनिक हित के लिए आत्मसुख का बलिदान—ये कुछ मूलाधार हैं जिसपर हमने अपने संस्कृति की शिला आधारित की है। हमारे कवियों और विचारकों ने इन मानवीय भावों का कीर्तिगान किया। तुलसी कहते है—

कबहुँकहौं यहि रहन रहौंगो।

श्रीरघुनाथ कृपालु कृपा तें संत-सुभाउ गहौंगो॥
जथा लाभु संतोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो।
परहितनिरत निरंतर मन-क्रम-बचन नेम निबहौंगो॥
परुष बचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
विगत मान सम शीतल मन, पर गुन औगुन न कहौंगो॥
परहरि देह जनित चिंता, दुख-सुख समबुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरिभक्ति लहौंगो॥

तुलसीदास की इस प्रार्थना में भारतीय संस्कृति के सभी आदर्शों का समावेश होजाता है। उपनिषदों के ब्रह्मवादी, गीता के स्थितप्रज्ञ, भागवत के भक्त, धम्मपद के ब्राह्मण और मध्य युग के संत एक ही संस्कृति के श्रेष्ठ प्रतीक हैं। नाम भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु जिन आदर्शों को लेकर भी चलते हैं, वे भिन्न नहीं हैं। भिन्न-भिन्न युगों में हमारी संस्कृति की विभिन्न विशेषताएँ तल पर आती रही हैं। परन्तु नीचे की धारा अविच्छिन्न गति से प्रवाहित होती रही है। नैतिक और आध्यात्मिक कह कर हम अपनी संस्कृति को छोटा नहीं करेंगे। उसमें मानव-जीवन के चतुर्युगों के लिए एक पूर्ण तंत्र का समावेश

था। आज भी वही हमारे जन-जीवन को नानात्व के भीतर एकत्व और परम्परा के भीतर प्रगतिका अर्ध्यदान देती है।

परन्तु नये वातावरण में प्राचीन मूल्यों का समावेश किस प्रकार हो? दो शताब्दियों की परतंत्रता ने हमारे आत्म-गौरव पर आघात किया है और हम अपनी संस्कृति की महत्ता में विश्वास नहीं करते। नया वातावरण हमें पश्चिम की ओर ढकेल रहा है। परन्तु पश्चिम की चमक-दमक हमें भले ही कुछ समय के लिए चमत्कृत कर ले, इसमें संदेह नहीं कि भारत के प्राण उसकी अपनी संस्कृति में हैं और उस संस्कृति में खो कर यह देश नये सिरे से फिर अपने को पा सकेगा। हाँ, उसे रूढ़ियों का तिरस्कार करना होगा। शताब्दियों के सांस्कृतिक जलप्रवाह ने कुछ शैवाल-जाल भी इकट्ठे कर लिए हैं। हमें उनसे मुक्त होना है। हमने अपने पूर्वजों से यही सीखा है कि सनातन के साथ मिल कर नया भी सनातन हो जाता है। हमने विदेशों से भी बहुत कुछ सीखा है। हज़ारों वर्ष पहले आर्य और राक्षस-सभ्यता में जो आदान-प्रदान हुए थे, आज भी सेतुबंध के रूप में वह-आदान प्रदान साकार रूप में उपस्थित है। पूर्व और पश्चिम के बीच में इसी प्रकार के एक सेतुबंध का निर्माण हमें करना है।

हमारे नये युग की यही पुकार है। हमें पूर्व और पश्चिम के समन्वय पर नई संस्कृति का शिलान्यास करना है। इसे न वह कर सकेंगे जो जड़ अतीत से चिपटे हुए हैं, न वह जो पश्चिम को अपना तन-मन अर्पण कर चुके हैं। दोनों के बीच में हमें अपनी राह निकालनी है। इसके लिए समन्वय-प्रेमी चिंतकों और साधकों की आवश्यकता है। देश की सशक्त परम्पराओं

और सजीव संस्थाओं का उद्धार करना है, परन्तु उन्हें पश्चिम के ज्ञानालोक से प्रकाशित भी करना है। नहीं तो हम केवल प्रगति-विरोधी शक्तियों का बल बढ़ायेंगे। पश्चिम के अन्धानुकरण से हमारा अपना बल क्षीण होता है और कभी-कभी तो हम हास्यास्पद बन जाते हैं। समन्वय के मार्ग पर चलना छुरे की तीक्ष्ण धार पर चलना है। परन्तु देश के कल्याण के लिए हमें यह अग्नि-परीक्षा देनी ही होगी।

पूर्व पूर्व है, पश्चिम पश्चिम है। दोनों की अपनी कुछ विशेषताएँ हैं। पूर्व भीतर की ओर अधिक मुड़ता है, पश्चिम बाहर की ओर अधिक जाता है। पूर्व के मनुष्य ने अपने ऊपर विजय पाना सीखा है। उसने संतजीवन की रूपरेखा गढ़ी है और उसे सामान्य जनता का जीवन-दर्शन बना दिया है। धन, ऐश्वर्य, प्रभुता, और ऐहिक सारी सम्पदा के प्रति वितृष्णा उत्पन्न करके और आत्मवादी के सारे विश्वास के साथ वह निरंतर कर्मतत्परता के ऐसे स्रोत उन्मुक्त करता है जो मानव—जीवन को सुखी बनाने में समर्थ हैं। ये आनन्द के स्रोत मनुष्य की आत्मा के भीतर ही छिपे हैं। पश्चिम ने विज्ञान को पकड़ा है और प्रकृति को पराजित किया है। परन्तु विज्ञान ने उसकी देहबुद्धि को ही अधिक जाग्रत किया है और प्रकृति पर विजय पाता हुआ वह धीरे-धीरे नास्तिक और घोर अहंवादी बनता जा रहा है। सत्य कहीं बीच में होगा। यह सत्य भारत की नई संस्कृति की आधार-शिला बने। नये युग की पुकार है कि पूर्व देह की ओर भी देखे और वह विज्ञान को भी अपनाये।

नई संस्कृति का रूप समन्वयात्मक होगा। उसमें पूर्व-पश्चिम का समन्वय प्रतिफलित होगा। पूर्व पश्चिम को

अपनायेगा और पश्चिम पूर्व को। न प्रज्ञान का सत्य ही सब कुछ है, न विज्ञान का सत्य ही सब कुछ है। प्रज्ञान और विज्ञान, हृदय और बुद्धि, अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय के मार्ग पर चलकर ही यह देश मानव-जीवन की सम्पूर्णता की उपलब्धि कर सकता है। और कोई मार्ग है ही नहीं। विज्ञान द्वारा हम भौतिक समृद्धि और सुख का संग्रह करें और धर्म-बुद्धि द्वारा हम इन्हें सबके लिए सुलभ बना दें। सौ वर्ष तक जीवित रहते हुए हम कार्य करें परन्तु भौतिक समृद्धि हमारी आँखों में चकाचौंध उत्पन्न नहीं करे और हम भौतिक सुख को क्षणभंगुर मानते हुए उन्हें निष्काम भाव से भोगें। पश्चिम की तरह हम देह को सजाकर उसकी पूजा न करने लगें। भारत संतुलन, समन्वय और सहिष्णुता का देश है। उसने आर्य-द्रविड़ संस्कृतियों को एक तार में गूँथा है। उसने अनेक जातियों और अनेक संस्थाओं को एक सूत्र में ग्रथित किया है। वह विराट समन्वय की भूमि रहा है। यदि पूर्व-पश्चिम के बीच में कहीं भी समन्वय संभव है तो इसी महामानवों के देश में। हमारी नई संस्कृति का शिलान्यास इसी समन्वय पर हो।

२६

विश्वशान्ति की समस्या

१--पृष्ठभूमि २—आज सारा संसार अविच्छिन्न है ३—सबसे पहले हम अपने हृदय को टटोलें : संत विनोवा की योजना ४—नए शिक्षण की आवश्यकता ५—राष्ट्रीयता बनाम मानवता ६—विकेन्द्रीकरण और स्वावलंबन ७—विश्वमानव के लिए एक नये अहिंसक समाज की योजना और इस समाज का रूप ८— कवि का सपना

पिछली दो शताब्दियों के वैज्ञानिक आविष्कारों ने इस भू-मंडल के दूर-दूर के देशों को पड़ोसी बना दिया है और आज सारी पृथ्वी के मानव अनेक प्रकार से एक ही संबन्ध-सूत्र में बँधते जा रहे हैं। रेल, तार, बिजली, टेलिफोन, रेडियो टेलीविजन और अन्य अनेकानेक आविष्कारों ने जहाँ मानव को भौतिक सुविधाएँ प्रदान की हैं, वहाँ उसे कुछ नई समस्याएँ भी दी हैं। इन समस्याओं में सबसे महत्वपूर्ण समस्या विश्व-शांति की समस्या है। इसी एक समस्या पर मानव-जाति की भावी प्रगति निर्भर है। यदि आज हमारी यह पीढ़ी इस समस्या को ठीक-ठीक तरह से नहीं सुलझा पाती तो कल किसी तीसरे या चौथे महायुद्ध के वात्याचक्र में पड़कर मानव-जाति और मानव-संस्कृति के सर्वनाश की आशंका लग रही है।

पहले ऐसा नहीं था। राष्ट्र दूर-दूर थे। अतः राष्ट्रीय स्वार्थों का इतना विस्तार नहीं था। न उनमें इतना संघर्ष ही संभव था। आज अमरीका के कल-कारखाने संसार के सारे

भारतीय धर्म में पुनर्जन्म और कर्मवाद प्रधान अंग हैं। इनका विकास पीछे हुआ। ऋग्वेद के मतानुसार आत्मा मृत्यु के उपरांत जन्म नहीं लेती। वह यमलोक को जाती है। ऋग्वेद के अनुसार यमलोक भयानक और त्रासक लोक नहीं, वरन् यहाँ यम का स्वरूप अत्यंत आर्कषक है। यम हमारे सर्वप्रथम पूर्वज थे जो यमलोक में पहुँच कर वहाँ के शासक बन गये थे। वे अन्य आत्माओं पर शासन करते हैं। इसी प्रकार का एक पितृ लोक भी है। कठोपनिषद् में भी यम का सुन्दर और ऐश्वर्यपूर्ण वर्णन 'नचिकेता' के प्रसंग में हुआ है। अतः स्पष्ट है, कि यम की भयंकर कल्पना और पौराणिक है और आर्यों के आनंदवाद से इसका मेल ठीक-ठीक नहीं बैठता।

वैदिककाल का प्रधान कर्मकांड यज्ञ था। यज्ञ के दो-रूप थे देवयज्ञ या पितृयज्ञ। देवयज्ञ के भी दो भेद थे—ब्रह्म-यज्ञ (स्तुति, प्रार्थना, संध्या, बंदनादि) और अग्निहोत्र (अर्थात् अग्नि में विशिष्ट क्रिया-सहित देवता के प्रति हवि देना)। ऋग्वेद के समय में भी यज्ञ होते थे, यह निश्चित है, किन्तु यज्ञ निरामिष होते थे। जो, तिल, घृतादि की हवि दी जाती थी। इन यज्ञों का उद्देश्य क्या था, इस विचार में अभी एक मत निश्चित नहीं है। यह उद्देश्य संभवतः देवताओं को प्रसन्न करना था। ऋषियों ने देखा कि प्रकृति में सूर्य जल का शोषण करता है, पृथ्वी जलदान करती है, यह एक प्रकार का यज्ञ है। इसी के अनुकरण-स्वरूप यज्ञ का आरंभ हुआ।

ऋग्वेद काल के नैतिक आदर्शों में दो बातें प्रमुख थीं—सत्य और ऋत्। सत्य का प्रयोग वैदिककाल के मंत्रों में प्रधान रूप से प्राप्त होता है। सत्य व्यवहार और सत्य भाषण आर्यों के लिए लोक-जीवन के दो महत्वपूर्ण सूत्र हैं। ऋत् का अर्थ वैदिक

साहित्य में प्राकृतिक नियम माना जाता था, यथा पृथ्वी का अपनी धुरी पर घूमना, सूर्य-नक्षत्रों आदि का उदय-अस्त होना इत्यादि। प्रकृति के ही के आधार पर वैदिक ऋषियों ने यह मान लिया कि सामाजिक एवं धार्मिक नियमों को भी ऋतु-युक्त होना चाहिये। जिस प्रकार प्रकृति के नियम 'ऋतु' हैं, उसी प्रकार सामाजिक नियम भी 'ऋत्'-पूर्वक हों। वे अनृत (नियमहीन) न हों।

ऋग्वेद के समय में आर्यों का निवास-स्थान पश्चिमी मध्यदेश था। गंगा, यमुना, सरस्वती, सतलज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम आदि नदियों के नाम वैदिक साहित्य में आये हैं। इनके ही समीप आर्यों का निवास-स्थान होना चाहिये। ऋग्वेद काल में पश्चिमी मध्यप्रदेश (गंगा-यमुना और राम-गंगा का कांठा, कुरु-पांचाल प्रदेश) और पूर्वी पंजाब (सरस्वती-दृषद्वती से चंद्रभागा के तीर तक ही) आर्यों का प्रधान निवास-स्थान था। सुवास्तु के पास गांधार में भी आर्य रहते थे, परन्तु ऋग्वेद युग में जिस सभ्यता और संस्कृति का विकास हुआ, उसका संबंध मध्यदेशी आर्यों से है। मनुस्मृति में लिखा है कि सरस्वती और दृषत्वती के मध्यवर्ती देश को 'ब्रह्मावर्त' कहते हैं। इस प्रदेश के आचार-विचार आर्यों को आदर्श-स्वरूप थे।

इस काल में राजा की संस्था में कुछ विशेषता थी। राजवंश क्रमागत होता था परंतु इसमें कभी अंतर भी हो जाता था। तदानुसार राजा का चुनाव प्रजा भी कर लेती थी। एकाधिकार शासन सीमित था। राजा उच्छृङ्खल नहीं होता था। उस समय की राजसत्ता में प्रजातंत्र राज्य का आभास मिलता है क्योंकि

राजा की सहायता के लिए तीन प्रधान व्यक्ति निर्वाचित होते
१—सेनानी जो सेना-नायक था और सेना का संचालन करता था। २—पुरोहित जो ब्राह्मण-वर्ग की देख-रेख करता था और धर्म का संचालन करता था। ३—ग्रामीण जो ग्राम्य प्रजा (विश्) की आय-व्यय की देख-रेख करता था। वह एक प्रकार से अर्थ का संचालन करता था। इस प्रकार बल, धर्म और अर्थ के संचालक व्यक्ति राज्य-संचालन में महान् सहायता करते थे। इनके अतिरिक्त एक चतुर्थ व्यक्ति भी होता था परन्तु उसका क्षेत्र गौण होता था। वह न्याय-संचालक था। चर का भी उस काल में क्षीण आभास मिलता है। इस प्रकार राज-व्यवस्था पर्याप्त रूप से विकसित पाई जाती हैं। राजा की संस्था के अतिरिक्त जनता की भी संस्थाएँ थीं। उनको 'सभा' और 'समिति' कहते थे। सभा कुछ चुने हुए नेताओं की संस्था होती थी। समिति जनसाधारण के प्रतिनिधियों की सभा।

आर्यावर्त के लोग टुकड़ियों में रहते थे। इन टुकड़ियों को 'जन' कहते हैं। 'जनपद' शब्द का तात्पर्य जनों के ग्रामीण संगठन (उपनिवेश) से है। वैदिक-साहित्य में जनपद शब्द का प्रयोग नहीं है, वरन् 'जन' शब्द प्रयुक्त हुआ है। दूसरा शब्द 'विश्' है। इसका तात्पर्य 'बस्ती' से है। इसी से वैश्य शब्द की उत्पत्ति हुई। तीसरा शब्द 'ग्राम' है। उस काल में ग्राम का अर्थ 'गृह-समूह' से था।

वैदिक कुटुम्ब या कुल में पैतृक सत्ता प्रधान थी। युवतियों का विवाह पर्याप्त अवस्था में होता था। बाल-विवाह की प्रथा नहीं थी। कुटुम्ब के प्रधान को दलपति कहते थे। उसके प्रति आदर का भाव भी अवश्य रहा होगा यद्यपि माता-पिता का

अधिकार विवाह में अधिक था। परन्तु कन्या का हाथ भी वर चुनने में होता था। घर का प्रबन्ध विवाह हो जाने के उपरान्त नवदम्पति के हाथ में आ जाता था। बहुविवाह साधारणतयः नहीं होते थे, यद्यपि बाद के युग (उपनिषद् युग) में याज्ञवल्क्य की दो पत्नियाँ गार्गी और मैत्रीय प्रसिद्ध हैं। ऋग्वेद में ही कुछ ऐसे उल्लेख हैं जिनसे यह पता चलता है कि सम्पन्न लोग बहुविवाह कर सकते थे। विधवा-विवाह भी प्रचलित् था। परन्तु स्त्रियों को लोग आदर की दृष्टि से देखते थे। कुटुम्ब में उनका स्थान पुरुषों के बराबर ही माना जाता था। परदा प्रथा नहीं थी।

आजकल की वर्ग-व्यवस्था बहुत आधुनिक है। वैदिककाल में समाज प्रायः तीन खंडों में विभक्त था—ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य। वैदिक काल में हमें इनकी संज्ञा क्रमशः पुरोहित, राजन्य तथा विश् के रूप में मिलती है। विश् साधारण जनता को कहते थे जो व्यापार और कृषि कर्म में संलग्न थी। उस समय इन तीन वर्गों में विवाह तथा खान पान का कोई भेद नहीं था। इन तीनों वर्गों के लोग 'आर्य' कहलाते थे। इतर जन अथवा दस्यु अनार्य। आर्य और अनार्यों का संपर्क नहीं होता था।

आर्य निरामिष भोजन करते थे। कुछ मांसाहारी भी मिलते थे। परंतु जनसाधारण शाकाहारी था। गेहूँ, जौ, धान का प्रचल अधिक था। जनता धन-धान्य पूर्ण थी। सोने और लोहे का उपयोग भी खूब था। विनोद और कला की दृष्टि से संगीत, वाद्य और नृत्यकला का काफ़ी प्रचलन था। रथों की दौड़ आदि का प्रचार काफ़ी था। उस युग में उच्च श्रेणी की

भवन-निर्माणकला का आविष्कार हो गया था। एक ऋचा में एक सहस्र खंभों के भवन का उल्लेख मिलता है। द्यूत का निषेध बराबर मिलता है, पर यह प्रथा उस समय ख़ूब प्रचलित थी, ऐसा पता लगता है।

यों तो आजकल की संस्कृति पर वैदिक काल की संस्कृति का प्रभाव नहीं है, परंतु अस्पष्ट रूप से हमारी संस्कृति पर वैदिक काल का प्रभाव है। वैदिक संस्कृति प्रवृत्तिमार्गी थी, निवृत्ति-मार्गी नहीं। त्याग अथवा विरक्ति की भावना उसमें नहीं थी। वैदिक स्तुतियाँ भी लौकिक थीं। वैदिक आर्यों को लौकिक उन्नति ही स्पृहणीय थी। वैदिककाल के पश्चात् निवृत्ति-मार्ग का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ने लगा। लौकिक उन्नति की इच्छा निम्नलिखित अवतरण से प्रतिभासित होती है :

'हे परमेश्वर, इस राष्ट्र में ज्ञान के तेज की वृद्धि हो। राजन्य वाण चलाने वाले और महारथी हों, बैल बोझ ले जाने वाले (वृषल) हों, तेज़ अश्व हों, सौभाग्यवती स्त्रियाँ हों। इस यजमान के घर वीर, विजयी, रथारोही सदैव हों और इच्छित समय पर वर्षा हो। कृषि फलवती हो और धन-संचय की रक्षा हो।'

यह अवतरण वैदिक-संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है।

२८

नई संस्कृति का शिलान्यास

१—पृष्ठभूमि २—नई संस्कृति की आवश्यकता ३—पिछली शताब्दियों का सांस्कृतिक संघर्ष ४—भारतीय संस्कृति के कुछ मूलाधार ५—नए वातावरण में प्राचीन मूल्यों का समावेश किस प्रकार हो? ६—नये युग की पुकार ७—पूर्व और पश्चिम ८—नई संस्कृति का समन्वयात्मक रूप

देश स्वतंत्र हो गया है। लगभग तीन वर्ष पहले एक ऐसी घटना हुई है जो संसार के इतिहास में विरल है। चालीस करोड़ मनुष्यों के एक महादेश ने युद्ध और रक्तपात के बिना शताब्दियों से खोयी अपनी स्वतंत्रता फिर प्राप्त कर ली है। जिस देश ने मानव-सभ्यता के प्रभात में हिमचुंबी पर्वत-शिखरों के नीचे खड़े होकर सामगान का उच्चार किया था और अंधकार से प्रकाश और मृत्यु से जीवन की ओर ले जाये जाने की प्रार्थना की थी, जिसने संसार के कोने-कोने में अपना मैत्री और करुणा का संदेश भेजा, जो सहस्रों वर्षों तक वाणिज्य, कला और ज्ञानविज्ञान का केन्द्र था, वह महामानवों का देश एक नये प्रभात में जाग कर अपने ज्ञानदीप्त नेत्र खोल रहा है। संभव है, आज हम इस घटना के महत्व को नहीं समझें, या जान-बूझ कर इस सत्य की ओर से आँखें मूंद लें, परन्तु इस में संदेह नहीं कि भावी पीढ़ियों के लिए इस घटना का महत्व अपरिसीम होगा।

इन तीन वर्षों में ही देश राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय क्षेत्रों में अनेक प्रकार से आगे बढ़ा है। हमने अपना नया विधान बनाया है और राष्ट्रीयता के बिखरते हुए सूत्रों को इकट्ठा किया है। हमने यह घोषणा की है कि इस भारतभूमि पर निवास करने वाले प्रत्येक नर-नारी को समान अधिकार प्राप्त हैं चाहे वह किसी जाति का हो, किसी धर्म से संबंधित हो अथवा उसके राजनैतिक विचार कुछ भी हों। इस प्रकार हमने भारतीय मात्र के लिए समान नागरिक अधिकारों की घोषणा की है। इस प्रकार हिन्दू-मुसलमान-ईसाई-पारसी-सिख इस देश की एक इकाई बन जाते हैं। स्वयं हिन्दू-समाज की वर्ण-श्रेष्ठता और उसकी अस्पर्श्यता की भावना को हमने दण्डनीय बना दिया है। आज हममें न कोई छोटा है न बड़ा। सब पूजागृह सबके लिए खुले हैं। कोई किसी को अछूत कह कर लांछित नहीं कर सकेगा। हमारे प्रजातंत्र में नर-नारी को समान अधिकार प्राप्त हैं। एक तरह से नये भारतीय प्रजातंत्र की नींव हमने डाल दी है और भारतीय प्रजातंत्र के महासदन की एक रूपरेखा भी हमने तैयार कर ली है।

परन्तु नई संस्कृति का शिलान्यास हमें अभी करना है। राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता आज के राजनैतिक युग में अत्यन्त महत्व की चीजें हैं, परन्तु वे राष्ट्र के बाह्य कलेवर हैं। राष्ट्र की आत्मा तो उसकी संस्कृति ही है। बाह्य कलेवर भी ठीक-ठाक हो, सुरुचिपूर्ण हो, आकर्षक हो, तो और भी अच्छा। परन्तु गली-सड़ी आत्मा की रक्षा आकर्षक बाह्य कलेवर से नहीं होगी। इसीलिए आज हमें नई संस्कृति की आवश्यकता है। हम अपनी आत्मा को पहचानें और उसके प्रकाश में अपना घर-बाहर सँभालें। ऐसा न होगा तो इस भारतीय प्रजातंत्र की न नींव ही सुरक्षित है, न हम उस पर गर्व कर सकेंगे।

पिछली कुछ शताब्दियों में हमारा सांस्कृतिक विघटन हो गया है। भागवत से तुलसी के रामचरितमानस तक हम संस्कृति के क्षेत्र में बराबर नीचे गिरते रहे हैं। भारतीय संस्कृति का स्वर्णयुग था गुप्त-युग। गुप्त-युग से हर्ष के समय तक हमारी संस्कृति की धाक सारे संसार पर थी और हमारे जल-पोत बहुमूल्य मणि-माणिक्य और धन-धान्य को ही दूर देशों तक नहीं पहुँचाते थे, वे यहाँ की श्रेष्ठतम कलाकृतियों का भी व्यवसाय करते थे। इसके बाद धीरे २ हम उस प्राचीन गौरव को भूल गये। हमारी दृष्टि संकुचित हो गई। हम अपने घर के छोटे-छोटे झगड़ों में ही खो गये। राजपूत युग में हमारी सांस्कृतिक विशेषताओं का इतना ह्रास हो चुका था कि पश्चिमी सीमा के पठानों और मुग़लों ने उन्हें बार-बार चुनौती दी और लगभग एक हज़ार वर्ष तक हमें एक विदेशी धर्म और एक विजातीय संस्कृति का बोझ ढोना पड़ा।

लगभग दो सौ वर्ष हुए, अंग्रेज़ राज्य भारत में स्थापित हुआ और हम उसके द्वारा पश्चिमी संस्कृति से परिचित हुए। पलासी की लड़ाई (१७५७ ई०) से ग़दर (१८५७ ई०) तक यह नई संस्कृति धीरे २ प्रबलता पाती गई। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीय अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को भूलने लगे। देश की दशा ही कुछ विलक्षण हो गई। हमारे नेताओं ने इस विषमता को देखा। परन्तु उनमें कदाचित् नई पश्चिमी संस्कृति के प्रवाह को एकदम मोड़ देने की शक्ति नहीं थी। परन्तु भारतेन्दु (१८५०-८५) जैसे क्रांतदर्शी चूकने वाले नहीं थे। उन्होंने अपने समय की दुरंगी की खिल्ली उड़ाते हुए लिखा—

भारत में एहि समय भई है,
सब कुछ बिनहिं प्रमान, हो दुइरंगी।

देशों के लिए साधारण सुविधा और उपयोग की वस्तुएँ बनाते हैं और कनाडा और आस्ट्रेलिया के खेत दूर-दूर के छोटे देशों के लिए अन्न उगाते हैं। आज सारा संसार अविच्छिन्न हो रहा है। परमपिता परमात्मा ने जिस प्रकार पृथ्वी, आकाश, वायु और सूर्यकिरणों की अनंत विभूतियों को सभी मनुष्यों के लिए समान रूप से उन्मुक्त रखा है, उसी प्रकार यदि हमारे हृदय के सद्भाव भी सबके लिए समान रूप से उन्मुक्त हो जायें तो यह मानवता अखंडित और अविभाजित हो जाये और विश्वशांति के मार्ग की सारी बाधाएँ स्वतः ही नष्ट हो जायें।

क्यों आज यह समस्या इतनी कठिन हो रही है? क्यों आज युद्ध की विभीषिका ने हमें घेर रखा है और हम मृत्यु की छाया में जीने लगे हैं? कौन सी बाधा है जो राष्ट्रों को एक नहीं होने देती है?—ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो संसार भर के विचारप्राण मनुष्यों को झकझोर रहे हैं। संसार आज युद्ध से ऊब गया है, पर उसे अभी भी उससे बचने का कोई रास्ता नहीं दिखलाई देता। सभी इसी खोज में हैं कि कोई ऐसा रास्ता निकले जो मानव-समाज को इस अभिशाप से मुक्त कर दे। परन्तु यह खोज किसी एक दिशा में नहीं हो, अनेक दिशाओं में यह खोज होनी चाहिये।

सबसे पहले हम अपने हृदय को टटोलें, स्वयं अपने भीतर विश्वशांति का हल खोजें। संत विनोबा ने ठीक ही कहा है—'शांति के लिए न चाहिए संघटना, न चाहिए विघटना। उसके लिए चाहिए देहभिन्न व्यापक अंतरात्मा का भाव; निर्मल चित्त और संयमशीलता। शरीर मुझे सौंपा हुआ है, लेकिन मेरा नहीं है, मेरे लिए नहीं है। समाज का है, समाज के लिए है।

सृष्टि का है सृष्टि के लिए है। फिर मेरा क्या है? सारा समाज और सारी सृष्टि मेरी है। यह है जागतिक शांति की योजना।' ऊँचे स्तर से बोलें तो विश्वशांति की समस्या का एक मौलिक हल हमें इस कथन में मिलेगा। यदि सभी स्त्री-पुरुष इसी सेवाभाव से भर जायें तो फिर राष्ट्रीय स्वार्थों के घात-प्रतिघात का अवकाश ही कहाँ हो? सभी स्त्री-पुरुषों की बात छोड़ दें और राष्ट्रों के संचालकों की ही बात लें, तब भी यह सध सकता है। शिक्षित और संस्कृत मनुष्यों के लिए अंतरात्मा की एकता का भान होना कोई असंभव बात नहीं है। इसके लिए प्रचार और प्रेरणा की आवश्यकता है और ये दोनों साधन सरलता-पूर्वक प्राप्त हो सकते हैं। यह कोई आसमानी बात नहीं है जो सध ही नहीं सके। ध्यान से देखें तो यह अत्यन्त व्यावहारिक चीज़ है। श्रुति कहती है—'मित्रस्य अहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।' अर्थात् 'मैं सब की ओर मित्रता की दृष्टि से देखूँ जिससे सभी लोग उसी दृष्टि से मेरी ओर देखें।' यह बहुत प्राचीन संदेश है। वेदांत इसी का दर्शन-पक्ष है।

पिछली शताब्दियों में हमने मनुष्य-मनुष्य के संघर्ष की बात को इतनी बार और इतनी ज़ोर से कहा है कि हम यह भूल गये हैं कि मानव-संस्कृति का विकास युद्धों की अपेक्षा शांतिकाल में ही अधिक हुआ है। मनुष्य स्वभाव से ही शांति-प्रिय है। यदि ऐसा न हो तो जीवन एक क्षण भी न ठहर पाये। प्रेम, सहयोग और एकता की भावना ने ही मानवसमाज को आगे बढ़ाया है। इसी मार्ग पर बढ़ते हुए उसे प्रकाश के तोरण-द्वार मिले हैं। पिछले दो युद्धों ने मानव की प्राकृतिक शांति की भूख की बात हमें भुला दी है और हम समझने

लगे हैं कि मनुष्य मूलतः कोई ऐसा हिंस्र पशु है जिसके नखदंत झर चुके हैं और जो आज उन्हें कहीं से खोज लाया है। पाठ्यपुस्तकों, समाचारपत्रों और रंगमंचों से बार-बार मनुष्य की हिंसा-प्रवृत्ति का जयघोष गाया जाता है और धीरे-धीरे उसके प्रकृत स्वरूप की ओर से हमारा ध्यान हट जाता है।

यह स्पष्ट है कि इस परिस्थिति को बदलना होगा। हमें अपने बालकों की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था इस प्रकार करनी होगी कि उसमें मानव-भाव का विकास हो और देश-देश के बालक पास-पास आयें। वे जानें कि मनुष्य-जाति एक है और जो अन्तर दिखलाई देता है, वह ऊपरी है और कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं है। आजकल जो शिक्षण दिया जाता है उससे मनुष्य न्याय और सेवा की अपेक्षा महत्ता का पुजारी बन जाता है। जो इतिहास हमें पढ़ाया जाता है वह युद्धों के विवरणों से भरा रहता है। जिन लोगों ने मानव को सहयोग और प्रेम का पाठ सिखाया और मानव-संस्कृति को आगे बढ़ाया उन्हें पीछे डाल दिया जाता है और युद्ध-व्यवसायी जननायकों की कीर्ति गाई जाती है। यह राष्ट्रीयता का युग है और प्रत्येक देश अपने बालक को ऐसी शिक्षा देता है जिससे उसमें राष्ट्रीयता का विकास हो। जब हमारी शिक्षा में राष्ट्रीयता का स्थान मानवता ले लेगी, तब हम सच्चे अर्थों में विश्वशांति की समस्या को हल करने में समर्थ होंगे।

जहाँ शिक्षा के क्षेत्र में मानवता की प्रतिष्ठा होगी, वहाँ जीवन के प्रति सारा दृष्टिकोण ही बदल जायेगा। सारे धर्म और सभी दर्शन हमारी जिज्ञासा और अध्ययन के विषय होंगे और हम सब के प्रति सहिष्णु होंगे। मानव का सारा

इतिहास हमें अविभाजित और अखंडित लगेगा और हम इस विराट भू के सामूहिक मंगल के लिए यत्नशील हो सकेंगे। हमारा विज्ञान संहार के अस्त्रों का आविष्कार नहीं करेगा। वह रोगों के कीटाणुओं से लड़ेगा और सबके लिए स्वास्थ्य, सुविधा और सौन्दर्य की योजना करेगा।

आर्थिक क्षेत्र में हमें एक नये समाज की नींव डालनी होगी जिसका मूल मंत्र विकेन्द्रीकरण और स्वावलम्बन होगा। आज की अनेक समस्यायें उस औद्योगिक क्रांति की उपज हैं जिसने गाँवों का सौन्दर्य नष्ट किया है और नगरों को वैभवशाली बनाया है और उच्च कला-कौशल के स्थान पर यांत्रिकता को स्थापित करने का प्रयत्न किया है। परिणाम-स्वरूप सामाजिक व्यवस्था तथा अन्तर्राष्ट्रीय संबन्धों का ह्रास हुआ है और साथ ही मानव-स्वभाव का पतन। जब मशीनों की संख्या की वृद्धि के साथ कारखानों में काम करने वाले मजदूरों की संख्या बढ़ने लगी तो संसार के विभिन्न देशों में व्यापार फैलाने के लिए प्रतिद्वन्दिता बढ़ने लगी और १६ वीं शताब्दी के अंत तक औद्योगिक दृष्टि से समुन्नत देशों ने संसार के बाजारों पर अधिकार जमा लिया। इसके कारण जो संघर्ष हुआ उसका परिणाम ही अंत में प्रथम विश्व-युद्ध के रूप में प्रगट हुआ। अप्रत्यक्ष रूप में इस संघर्ष ने सैद्धांतिक विरोध को जन्म दिया। यही विरोध अंत में दूसरे महायुद्ध के रूप में परिणत हुआ। आज सभी जगह ग्रामीण अर्थव्यवस्था का अंत हो गया है और आर्थिक दृष्टि से संसार के सारे राष्ट्र कुछ समुन्नत देशों के ग़ुलाम बन गए हैं। यही आर्थिक ग़ुलामी कालांतर में राजनैतिक गुट्टों को जन्म देती है। जहाँ इन गुट्टों के स्वार्थों में संघर्ष हुआ, वहाँ फिर एक विश्वव्यापी

विस्फोट की संभावना उपस्थित हो गई। इस विषम परिस्थिति का निराकरण विकेन्द्रीकरण द्वारा ही हो सकता है। उसी से मानव-समाज अपने मूलभूत सिद्धांतों पर फिर आ सकता है और ग्रामों का पुनर्निर्माण हो सकता है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर आश्रित देश ही स्ववालंबी बन सकता है और स्वावलम्बी बने बिना राजनैतिक गुट्टबाज़ी से दूर रहना कठिन है।

उद्योग-धंधों का विकेन्द्रीकरण और ग्रामीण अर्थव्यवस्था एवं स्वावलम्बन का पुनरुद्धार कर हम एक नये अहिंसक समाज की रचना करते हैं। साधारण ढंगों से युद्धों को कुछ दिनों टाला तो जा सकता है, परन्तु हमें युद्ध को जड़ से नष्ट करना है तो हमें समाज की आर्थिक और राजनैतिक रचना और उसका संगठन ही बदलना होगा। अगर अहिंसा और प्रेम की नींव पर विभिन्न देशों में एक तरह की नवीन समाज-रचना खड़ी की जाये तो फिर युद्ध आमूल नष्ट किया जा सकता है। इस अहिंसक समाज की नींव विकेन्द्रीकरण, प्रादेशिक स्वावलंबन और जीवन की सादगी पर आधारित हो सकती है। केन्द्रीकरण युद्ध को जन्म देता है; विकेन्द्रीकरण युद्ध के स्रोत को सुखा डालता है और उसके द्वारा शांति की गंगा को समतल पर उतारा जा सकता है। औद्योगिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है ग्रामोद्योगों का पुनरुद्धार और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है ग्रामपंचायतों का व्यापक संगठन। हम सामाजिक क्षेत्र में धर्म, वर्ग तथा अन्य किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं मानें और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में पारस्परिक सहयोग और ज्ञानविज्ञान के विनिमय पर बल दें।

बापू के एक शब्द में यह विश्वशांति की सारी योजना आ

जाती है और यह शब्द है अहिंसा। यदि हम अहिंसा की नींव पर ही जनजीवन को आधारित कर सकें तो यह विश्व नंदन-कानन बन जाये। आर्थिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ है औद्योगिक विकेन्द्रीकरण, राजनैतिक क्षेत्र में अहिंसा का अर्थ है पंचायती विकेन्द्रित राज्य, सामाजिक संगठन की दृष्टि से अहिंसा का तात्पर्य है समानता अर्थात् भेदभाव का उन्मीलन और शिक्षा-क्षेत्र में अहिंसा का तात्पर्य है शारीरिक और बौद्धिक विकास में संतुलन। इन सभी क्षेत्रों में अहिंसा का प्रयोग करने पर ही शांति की स्थापना हो सकती है।

परन्तु अहिंसक समाज की स्थापना का यह स्वप्न कैसे सार्थक हो? आज तो संसार के किसी भी देश की सरकार इस ओर बढ़ने के लिए तैयार नहीं दिखलाई देती। बड़ी-बड़ी योजनायें बनती हैं। पहले लीग थी, अब यू० एन० ओ० की स्थापना हो गई है। यह प्रयत्न किया जाता है कि संसार के सभी राष्ट्र इस विकेन्द्रीय सत्ता के अनुशासन को मानें और राष्ट्रीय झगड़ों का इसी संस्था द्वारा फ़ैसला हो। कुछ लोगों को ऐसा लगता है कि कालांतर में यही संस्था संसार की केन्द्रीय शासन-सत्ता का रूप ग्रहण करेगी। और और बातें सोची जाती हैं। जैसे अब कुछ करने को रहा ही नहीं हो और राष्ट्रीय स्वार्थों में संतुलन स्थापित करना कोई बाज़ीगरी हो जो थोड़े से बुद्धि-व्यवसायियों का काम हो। परन्तु जो गहरा देखते हैं वे यह जानते हैं कि यह सब ऊपर की लीपा-पोती है और इससे विश्वशांति की समस्या हल नहीं हो जाती। यदि हम यह चाहते हैं कि मानव के ऊपर से युद्ध की छाया हट जाये और वह सुख-शांति का अनुभव करे तो हमें शांति-मन्दिर की नींव कुछ गहरी देनी होगी। यह चतुर राजनीतियों का काम नहीं होगा।

यह तो साधारण मनुष्य करेगा। सरकारें इस योजना में सहायक हो सकती हैं परन्तु अधिकांश काम सरकारों के बाहर जनसेवियों द्वारा संपन्न होगा। आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक देश में ऐसे जनसेवी तैयार किये जायें और वे हज़ारों-लाखों की संख्या में अपने काम में जुट जायें। हमारे देश में सेवाग्राम में जिस प्रकार का काम हो रहा है, उस प्रकार का काम यदि संसार के सभी देशों में एक लाख केन्द्रों द्वारा होने लगे तो वह दिन दूर नहीं हो जब कवि का सपना भू-पट पर उतर आये :

ग्राम नहीं वे ग्राम आज
औ' नगर न नगर जनाकर,
मानव कर से निखिल प्रकृति जग
संस्कृत, सार्थक, सुन्दर।
देश राष्ट्र वे नहीं,
जीर्ण जग पतझर त्रास समापन,
नील गगन है : हरित—धरा:
नव युग, नव मानव-जीवन।
आज मिट गए दैन्य—दुःख,
सब क्षुधा-तृष्णा के क्रंदन,
भावी सपनों के पट पर
युग-जीवन करता नर्तन।
डूब गये सब तर्कवाद,
सब देशों-राष्ट्रों के रण,
डूब गया रव घोर क्रांति का
शांत विश्व-संघर्षण।
जाति वर्ण की, श्रेणि वर्ग की

तोड़ भित्तियाँ दुर्धर
युग-युग के बंदी-गृह से
मानवता निकली बाहर।
नाच रहे रवि-शशि
दिगंत में, नाच रहे ग्रह-उड़गण,
नाच रहा भूगोल
नाचते नर-नारी हर्षित मन।
फुल्ल रक्त-शतदल पर शोभित
युग-लक्ष्मी लोकोज्ज्वल
अयुत करों से लुटा रही
जनहित, जनबल, जनमंगल!
ग्राम नहीं वे, नगर नहीं वे,—
मुक्त दिशा औ' क्षण से
जीवन की क्षुद्रता निखिल
मिट गई मनुज-जीवन से

(पंत)

यह सपना कल सपना नहीं रहेगा। देश-देश के जनसेवियों के श्रमसिंचित मन उसे सत्य का ठोस रूप देंगे और उनके जीवन से मुद्रित विश्वप्रेम, बांधुत्व और सहकारिता का संदेश संसार के करोड़ों प्राणियों को क्षुद्रता और स्वार्थपरता से ऊपर उठाने में सहायक होगा। इसी हमारी पृथ्वी को एक दिन स्वर्ग होना है, इस विश्वास को लेकर यदि हम आज ही अहिंसक मानव-मन के निर्माण में लग जायें तो फिर कुछ भी असंभव नहीं रहे।

३०

गांधी-जयन्ती

१—भूमिका २—जयंती क्यों ? ३—आत्मशोध का दिन ४—गाँधीजी का राजनैतिक महत्व ५—गाँधीजी की सामाजिक और रचनात्मक योजनाएँ ७—भारत की संत-परंपरा और गाँधीजी ८—युग-पुरुष

पिछले तीस वर्षों से २ अक्टूबर के दिन हम गाँधी-जयंती मनाते रहे हैं। इस दिन महाप्राण बापू का जन्म हुआ था। देश के एक छोटे से कोने में बसे हुए पोरबंदर के एक छोटे से अन्धकारपूर्ण कक्ष में उस दिन जो ज्योति जागी थी, वह आज बुझ गई है, गाँधीजी हमारे बीच में अब नहीं हैं, परन्तु सच तो यह है कि आज वह ज्योति हृदय-हृदय में निवास करने लगी है और देश-देश में फैल गई है। गाँधीजी मनुष्य की सद्-भावनाओं और प्रेम और तपस्या के प्रतीक थे। जब तक मनुष्य सत्य, अहिंसा और साधनों की शुद्धता में विश्वास करता रहेगा, तब तक गाँधीजी मरते नहीं। वे अमर हैं, जिस प्रकार ईसा और बुद्ध अपने संदेशों में अमर है। प्रत्येक गाँधी-जयन्ती के दिन हम गाँधीजी के सिद्धांतों में श्रद्धा प्रगट करते हैं और उनके चरणचिह्नों पर चलने की शपथ लेते हैं।

इस देश में जयन्ती मनाना कोई नई परम्परा नहीं है। प्रत्येक वर्ष हम राम, कृष्ण, नानक, बुद्ध और मुहम्मद की जयंतियाँ बनाते हैं। ये महापुरुष थे और इन्होंने हमारे लिए—मानव-मात्र के लिए—जो आदर्श छोड़े वे आज हमारी संस्कृति के

मेरुदंड हैं। इसीलिए हम इनकी जयजयकार बोलते हैं। अन्य देशवासी अपने महापुरुषों की मृत्यु पर रोते हैं। वे मृत्युतिथि मनाते हैं। उन्हें इसका शोक रहता है कि वे महापुरुष अब नहीं रहे। भारतवासी आत्मा की अनित्यता पर विश्वास करते हैं। ऋषि के स्वर में स्वर मिला कर ये कहते हैं—वायुर्निलम् मृतमथेदं भस्मांतं शरीरम्। इस शरीर को तो धूलि होना ही है। इसका तो पतन होगा ही। मृत्युतिथि मनाना शव की उपासना ही है। हमारे देश ने सदैव ही जीवन को उपासना की है और काल को चुनौती दी है। महापुरुष चले गये, परन्तु उन्होंने जो ज्योति जलाई वह तो बुझी नहीं है। वह बुझ भी नहीं सकती। प्रकाश का वह दीपदंड वे हमें दे गये हैं। प्राण देकर भी हमें उस ज्योति को जलाये रखना है। जिस दिन उन महापुरुषों ने अपने अवतार से पृथ्वी को धन्य किया था वह दिन हमारे लिए कृतज्ञता का दिन है, आत्मशोध का दिन है, पवित्र संकल्पों का दिन है। इसी दिन हम जयघोष करेंगे। इसी दिन हम काल को चुनौती देंगे कि संसार की उस श्रेष्ठ निधि को हमसे छीन नहीं सके हो। भगवान इन महापुरुषों के रूप में ही तो पृथ्वी पर अवतार लेकर धर्म की संस्थापना करता है। अवतार वही तो है तो अपने कार्यों को ईश्वर का कार्य समझ कर निर्लेप भाव से जय-पराजय से अनासक्त होकर संपन्न करे। गाँधीजी ऐसे ही अवतार थे। उन्होंने एक ऐसी विदेशी राजसत्ता से मोर्चा लिया जो करोड़ों-करोड़ों मनुष्यों के जीवन को नारकीय यातनाओं से भर रही थी, जो हिमालय से दक्षिण-सागर और सिंधु से ब्रह्मपुत्र तक फैले हुए इस महादेश के आत्मसम्मान को दो शताब्दियों से ठुकरा रही थी। उन्होंने लाखों-लाखों मनुष्यों के जीवन में कर्मठता, आत्मसम्मान, सत्य और अहिंसा की दीपशिखा जलाई। उनकी लुकाठी पकड़ कर

सैकड़ों तमस् से ज्योति की ओर बढ़े। अपने ढंग पर उन्होंने एक बार फिर सनातन संतधर्म की संस्थापना की।

गाँधीजी की राजनैतिक विजययात्रा की कहानी हम सभी जानते हैं। इस कहानी के तीन अङ्ग हैं। कहानी का पूर्वार्द्ध अफ़रीका से सम्बन्धित है। २२-२३ वर्ष की आयु में वे काम के सिलसिले में वहाँ गये। वहाँ उन्होंने गोरों द्वारा कालों का उत्पीड़न देखा। उनके आत्मसम्मान को चुनौती मिली। भारत की संत आत्मा उनके भीतर विद्रोह कर उठी। उन्होंने अपने भीतर एक नई दीप्ति का अनुभव किया। २० वर्ष तक उन्होंने कालों के आत्मसम्मान की लड़ाई लड़ी और अपने अहिंसा और सत्याग्रह के शस्त्र के पहले प्रयोग किये। अन्त में वे विजयी हुए। उन्होंने अपनी सारी तरुणाई बिता दी थी, उनके जीवन का सर्वश्रेष्ठ भाग प्रवासी भारतीयों की लड़ाई लड़ते-लड़ते समाप्त हो गया था, परन्तु इस लड़ाई में उन्होंने यह भी सीख लिया था कि शुद्ध तपश्चर्या के बल से एक अकेला आदमी भी सारे जगत को कँपा सकता है। मगर इसके लिए अटूट श्रद्धा की आवश्यकता है। गाँधीजी ने लिखा है—'श्रद्धा का अर्थ है आत्मविश्वास और आत्मविश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास। जब चारों ओर काले बादल दिखाई देते हैं, किनारा कहीं नज़र नहीं आता हो और ऐसा मालूम होता हो कि बस अब डूबे, तब भी जिसे यह विश्वास होता है कि मैं हर्गिज़ न डूबूँगा, उसे कहते हैं श्रद्धावान्।' गाँधीजी में ऐसी अगाध श्रद्धा बड़ी मात्रा में थी।

गाँधीजी का भारतीय राजनैतिक जीवन १९१५ ई० से आरम्भ होता है, परन्तु उन्होंने राजनीति में सक्रिय भाग

१६२० ई० से लिया। चम्पारन की समस्या के द्वारा वे एक श्रेष्ठ कर्मवीर के रूप में देश के सामने आये और जलियानवाले हत्याकांड के बाद तो उन्होंने स्पष्ट रूप से देश की बागडोर अपने हाथों में ले ली। लगभग ३० वर्ष तक देश की राजनीति के सारे सूत्र उनके हाथों में रहे और अब भी जब वे नहीं हैं देश के नेता उन्हीं के सूत्रों के सहारे देश को प्रगति के मार्ग पर बढ़ा रहे हैं। साबरमती से दंडीयात्रा तक उनके राजनैतिक जीवन का दूसरा अध्याय चलता है। ये दिन देश के लिये भयंकर दुस्साहस और कठोर आत्मशुद्धि के दिन थे। अनेक बार गाँधीजी को मृत्यु-शय्या की शरण लेनी पड़ी। उन्होंने बार-बार अपने साथियों को अग्नि-परीक्षा में डाला और स्वयं काल के मुँह में जाने से नहीं हटे। इसके बाद के कुछ वर्ष गाँधीजी और कांग्रेस के लिए आत्मशोध के वर्ष थे। गाँधीजी राजनीति-क्षेत्र से लगभग हट से गए। उन्होंने हरिजनों (अछूतों) के उद्धार और रचनात्मक कार्यक्रम को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। पहले वर्धा और फिर सेवाग्राम को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया। उन्होंने अनेक ऐसी संस्थाओं की नींव डाली जो कालांतर में अखिल भारतीय संस्थाएँ बन गईं। भारतीय जनजीवन के सभी क्षेत्रों में उन्होंने बड़े-बड़े प्रयोग किये। ग्रामीण उद्योग-धंधों, शिक्षा और सामाजिक सुधार के क्षेत्र में उनके विचार इतने नवीन थे कि इन क्षेत्रों के बड़े-बड़े विचारकों को गाँधीजी का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ा। इन कुछ वर्षों में देश की राजनीति की बागडोर ऐसे दल के हाथ में रही जो कौंसिलों में प्रवेश कर देश के शासन को हस्तगत करना चाहता था। उसका कहना था कि यह भी विदेशी सरकार से लड़ाई का एक ढंग हो सकता है। यह भीतर की लड़ाई है। यह शत्रु पर छापा मार कर गढ़ के भीतर

लड़ना है। गाँधीजी स्वयं समन्वयवादी थे। वे इस दल के साथ बहुत दूर तक जाने को तैयार थे, परन्तु वे यह भी जानते थे कि देश की स्वाधीनता इस तरह नहीं प्राप्त होगी। उसके लिए केवल एक ही रास्ता है और वह कष्टसहन और बलिदान का रास्ता है। १६३६ ई० में महायुद्ध का आरम्भ हुआ और भारत के युद्ध में प्रवेश करने के प्रश्न पर काँग्रेस के विधानवादी दल को इस्तीफ़ा देना पड़ा। देश का नेतृत्व फिर गाँधीजी के हाथ में आ गया। उन्होंने युद्ध और अराजकता के बीच में भी अपने ढङ्ग पर देश की स्वाधीनता की लड़ाई आरम्भ कर दी। ८ अगस्त १६४२ को उन्होंने नारा लगाया—'करो या मरो।' उन्होंने अंग्रेज़ों को चुनौती दी। वे एकदम भारत छोड़ दें। विदेशी सरकार ने उनकी चुनौती को स्वीकार किया और उसके दमन-चक्र ने एक बार तो जनता को पीस दिया। नेता लोहे के सीकचों के पीछे बन्द कर दिये गये और हज़ारों नर-नारी बलिवेदी पर चढ़ा दिये गये। परन्तु जनता की शक्ति दुर्जेय थी। गाँधीजी ने देश में जो आग सुलगा दी थी, वह इतनी सरलता से बुझ नहीं सकती थी। एक बार तो विदेशी सरकार के सारे कल-पुरज़े भी शिथिल हो गये। युद्ध की समाप्ति पर उसके लिए जनता के विरुद्ध एक क्षण भी इस देश में रहना असंभव हो गया। नेता जेल से बाहर आये। समझौते की बातें चलीं और १५ अगस्त १६४७ को देश मुक्त हो गया। दो सौ बर्षों की अंग्रेज़ों की ग़ुलामी के बाद यह देश स्वतंत्र हो गया। दिल्ली पर कांग्रेस का झंडा फहराने लगा।

परन्तु देश की राजनैतिक मुक्ति की कहानी गाँधीजी के जीवन की सारी कहानी नहीं है। राजनैतिक मुक्ति तो इस देश

को मिलना ही थी। कांग्रेस की स्थापना के साथ इस मुक्ति क
बीजपात हो चुका था और गाँधी के प्रवेश तक देश काफी दू
चला भी गया था। वह न आते तो कोई दूसरी शक्ति आती
और देश स्वतंत्र हो जाता। परन्तु गाँधीजी का महत्व यह है
कि उन्होंने हमारी राजनैतिक लड़ाई को नये ढङ्ग से चलाय
और विशुद्ध नैतिक अस्त्रों का प्रयोग किया। उनकी लड़ाई
कुछ थोड़े से महावीरों और नेताओं की लड़ाई नहीं थी। देश
की सारी जनता ने उसमें भाग लिया। करोड़ों लोगों ने अपने
जीवन में नई ज्योति जानी, नये उत्ताप का अनुभव किया और
सामूहिक सुख के लिए बलिदान होना सीखा। उन्होंने सैकड़ों
वर्षों से पददलित भारतीय जन को सब प्रकार के भयों से
मुक्त किया। संसार के किसी भी देश ने इतने विशुद्ध अस्त्रों से
और इतने कम जनक्षय से स्वतंत्रता नहीं प्राप्त की होगी। फिर
उनके युद्ध की यह विशेषता रही कि उसने घृणा, विद्वेष और
कटुता को जन्म नहीं दिया। अंग्रेजों ने भारतीयों की सदाशयता को समझा, जनशक्ति के बल को पहचाना और जब वे
इस महादेश को छोड़कर चले तो उनके मन में किसी प्रकार की
कटुता नहीं थी। जो अब तक उनसे लड़े थे, वे अब उनके
मित्र थे। साधनों की शुद्धता और गाँधी जी के व्यक्तित्व के
कारण ही ऐसा संभव हो सका। अन्तर्राष्ट्रीय शांति और
समृद्धि के लिए यह बहुत बड़ी बात हुई। वस्तुतः गांधीजी ने
राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने का एक
नया ढङ्ग निकाल लिया था। यह दुःख का बिषय है कि आज
भी इन क्षेत्रों में शस्त्र का प्रयोग ही एकमात्र उपचार समझा
जाता है। परन्तु शस्त्र-व्यवसायी तो युद्ध की समस्या को भी
हल नहीं कर सकता, वह शांति की समस्या को कैसे हल
करेगा ?

यह स्पष्ट है कि गाँधी जी राजनैतिक क्षेत्र में बहुत बड़े थे, परन्तु सामाजिक और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में और भी बड़े थे। वे मानव-जीवन के लिए एक संदेश लेकर आये थे। अपने रचनात्मक कार्यक्रम द्वारा वे एक अहिंसक समाज की नींव डालना चाहते थे। उन्होंने यह जान लिया था कि आधुनिक युग की समस्यायें मुख्यतः विकेन्द्रीकरण और मानव-मन के पुनर्निर्माण की समस्यायें हैं। औद्योगिक क्रांति के बाद कुछ छोटे-छोटे पश्चिमी देशों ने विज्ञान में बड़ी उन्नति कर ली और एक मशीनी सभ्यता को जन्म दिया। गाँवों का धन-जनबल नगरों की ओर बहने लगा। गाँव उजड़ गये और नगर बस गये। इस प्रकार प्राकृतिक जीवन का अन्त हो गया और धरती से दूर रह कर मनुष्य का प्रकृत बल क्षीण होने लगा। नई-नई समस्याएँ उठ खड़ी हुइ। कुछ समस्याएँ आर्थिक थीं, कुछ नैतिक, परन्तु जब वे राजनैतिक रूप धारण करके अन्तर्राष्ट्रीय रङ्गमंच पर अवतीर्ण हुईं तो उन्होंने साम्राज्यवाद, समाजवाद, साम्यवाद और इसी प्रकार के अनेक राजनैतिक वादों का रूप ग्रहण किया और महायुद्धों को जन्म दिया। गाँधीजी गाँवों को केन्द्र बनाना चाहते थे। ग्रामीण उद्योग-धंधों के आविष्कार और पंचायत राज की कल्पना के द्वारा वे औद्योगिक और राजनैतिक विकेन्द्रीकरण की ओर बढ़ रहे थे। उन्हें विश्वास था कि इस तरह एक नये मानव-मन का निर्माण होगा। नये मानव-मन की भित्ति होगी सत्य और अहिंसा। नई शिक्षा इस नये मानव-मन की रक्षा करेगी और अगली पीढ़ियों के हाथ में इस युग का उत्तरदायित्व सौंपेगी। इसमें संदेह नहीं कि गाँधीजी के चले जाने के बाद आज संसार के सभी देशों के विचारशील प्राणी उनकी इन योजनाओं पर विचार कर रहे हैं और अहिंसक समाज की स्थापना का

गाँधीजी का सपना सच होकर रहेगा।

गाँधी जी भारत की संतसंस्कृति के प्रतीक थे। उपनिषदों के ऋषियों के युग से कबीर-तुलसी के युग तक भारत ने धर्म, दर्शन और समाज के क्षेत्र में जो सोचा था, साधना द्वारा जो प्राप्त किया था, मनन द्वारा जिस सत्य की उपलब्धि की थी, वह सब गाँधीजी में साकार हो उठा था। इसी से उनके विचार नवीन होते हुए इस देश के निवासियों के लिए नवीन नहीं थे। उन्होंने संतों की सत्यनिष्ठा और कष्टसहन को परम्परा को सामाजिक और राजनैतिक क्रांति का अस्त्र बना दिया और उनकी वैयक्तिक साधना सारे राष्ट्र की साधना बन गई। गाँधीजी के द्वारा भारत की संत-संस्कृति ने विश्वव्यापी प्रचार पाया है और उन्होंने मानव-जीवन को सैकड़ों डग आगे बढ़ाया है। कबीर और तुलसी के लिए धर्म माध्यम बना था, गाँधीजी के लिये चरखा, खद्दर और राजनैतिक आन्दोलन महान अस्त्र बने। परन्तु भूमि एक ही थी। उन्होंने पूर्व-पश्चिम के भेद को मिटाया और जाति-धर्म-भेद से ऊपर उठ कर अखंड मानवता की भूमि तक पहुँचने के लिए अथक परिश्रम किया। मानव द्वारा मानव का उत्पीड़न, शोषण और निरादर मनुष्य का सब से बड़ा पाप है, यह उन्होंने हमें बताया और संसार में सब कहीं इस पाप से लड़ने के लिए एक अमोघ अस्त्र का निर्माण किया। वे निश्चय ही युग-पुरुष थे।

३१

पश्चिमी सभ्यता का संघात

१—पश्चिम सभ्यता का समुद्रद्वार से प्रदेश २—पुर्तगाली, डच फ़रांसीसी और अंग्रेज़ ३—नए युग में नौ शक्ति का महत्व ४—पुर्तगाली शासन का भारत पर प्रभाव ५—फ़रांसीसी प्रभाव और डूप्ले ६—ईसाई मिशनरी और उनका प्रभाव ७—बंगाल और बिहार में अंग्रेजी शासन का आरम्भ ८—१६ वीं शताब्दी के राजनैतिक और सांस्कृतिक संघर्ष ९—नई भारतीय संस्कृति में पश्चिमी सभ्यता के अंग १०—उपसंहार

१४९८ ई० में जब वास्कोडिगॉमा के तीन जहाजों ने कालीकट के बंदरगाह पर लंगर डाला तो भारतीय इतिहास में एक नए अध्याय का जन्म हुआ। भारत का समुद्री द्वार खुल गया और पश्चिम की यूरोपीय सभ्यता से भारत पहली बार परिचित हुआ। पहले पुर्तगोज़ आये, फिर डच, फिर फ़रांसीसी और अन्त में अंग्रेज़।

पुर्तगाली पहले-पहल आये तो उन्होंने दो लक्ष्य सामने रखे—ईसाई धर्म का प्रचार और व्यापार। उस समय भारत के मसालों का यूरोपीय देशों में बड़ा प्रचलन हो गया था और वर्षों तक पुर्तगालियों ने इस व्यवसाय को अपने हाथ में रखा। परन्तु शीघ्र ही पुर्तगाली कुछ प्रदेशों के शासक बन बैठे और धर्म-प्रचार के लिए उन्होंने तलवार का सहारा लिया। १५१५ ई० में गोआ के गवर्नर ने कहा था कि हम भारत में इस तरह आये हैं कि हमारे एक हाथ में क्रास है, एक में तलवार। शीघ्र ही पुर्तगाली अप्रिय हो गये।

इन विदेशियों की शक्ति नौ-शक्ति तक केन्द्रित थी। सारे समुद्र पर उनका शासन था। अकबर के हज के जहाजों को भी पुर्तगाली आज्ञा-पत्र लेने पड़ते। नहीं तो वे लूट लिये जाते। व्यापार ही प्रधान लक्ष्य था, इससे पुर्तगाली लोगों के केन्द्र केवल समुद्रतट के कुछ नगर रहे। उन्होंने यहीं शादी-विवाह कर लिये और वे यहीं बस गये। अल्बूकर्क (Albuquerque 1509—15) ने हिन्दुओं के प्रति सहानुभूति रखी और हिन्दू लोग इसे बराबर मानते रहे, परन्तु शीघ्र ही (१५४०) तलवार के बल पर धर्म-प्रचार होने लगा।' जान तृतीय की आज्ञा ही ऐसी थी। १५६० तक तो सारी सत्ता जैसे धर्माधिकारियों के हाथ में चली गई थी। कैथोलिक मत राज-धर्म था और जो अन्य मतों के ईसाई भारत में बस गये थे, उनके साथ लोम-हर्षण अत्याचार होने लगे। फल यह हुआ कि लोग भाग कर मालाबार में बसने लगे।

पश्चिम में गोआ, द्यू, दमन के प्रदेश पुर्तगालियों से शासित थे। उत्तर-पूर्व में केवल हुगली। परंतु हुगली पर गोआ के गवर्नर का सीधा अधिकार नहीं था। वहाँ उत्तरी भारत के ईसाई इकट्ठे थे और लुटेरे पुर्तगाली अपने लूटमार के व्यापार को बढ़ा रहे थे। लोगों को छापा मार कर पकड़ लेना और यतीमों को ज़बरदस्ती ईसाई बनाना उनका काम था। शाहजहाँ ने इन अराजकों को नष्ट करने का विचार किया और १६३२ में हुगली की बस्ती नष्ट कर दी गई। इस प्रकार भारत की पुर्तगाली शक्ति पश्चिमी समुद्र तट के तीन नगरों में सीमित रही। उसकी ऐतिहासिक महत्ता का शीघ्र ही लोप हो गया।

पुर्तगाली शासन का भारत पर अधिक महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। सब से मुख्य बात यह थी कि पश्चिम के लिए पूर्व

का द्वार खुल गया। इन समुद्री यात्राओं ने पूर्व में पश्चिमी देशों के बड़े बड़े साम्राज्य स्थापित करा दिये। समुद्री व्यापार का आरंभ हुआ। रोमन कैथोलिक ईसाई धर्म का प्रचार भी हुआ। परंतु पुर्तगाली बिखरे हुये थे। देश के भीतरी भागों में उनकी पहुँच न थी। इस प्रकार भारतीय जनता पर उनका विशेष प्रभाव नहीं पड़ा। केवल पुर्तगाली भाषा के अनेक शब्द भारतीय भाषाओं में आ गये। कुछ दिनों तक यह भाषा विदेशी लोगों के साथ आदान-प्रदान की भाषा रही। फ्रांसीसी और अंग्रेज़ बराबर पुर्तगाली दुभाषिये रखते थे और लार्ड क्लाइव के समय तक राजनीति में इस भाषा का प्रयोग होता था।

परंतु पुर्तगालियों का सबसे महत्वपूर्ण प्रभाव तम्बाकू का मनोरंजन था। इसने भारतीय समाज में एक नई क्रांति कर दी। १७ वीं शताब्दी के प्रारंभ में तम्बाकू का चलन हुआ और थोड़े ही समय में इतना फैल गया कि शाहजहाँ को इसके विरुद्ध आज्ञापत्र निकालना पड़ा। परंतु तम्बाकू की लोकप्रियता बढ़ती गई और हुक्का-तम्बाकू मुसलमान सभ्यता के अभिन्न अंग बन गये।

उन लोगों का लक्ष्य व्यापार-मात्र था। उन्होंने फैक्ट्रियाँ बनाईं और उन्हें किले बनाकर सुरक्षित किया। परंतु क्षेत्र-विस्तार और शासन उनके लिए महत्वपूर्ण न था। न वे घर बसा कर रहना चाहते थे, न ईसाई धर्म का प्रचार। प्रचारक रहते परंतु वे रोमन कैथोलिक ईसाइयों को प्रोतेस्तेन्त बनाकर संतुष्ट हो जाते थे। वे भारतीय जन-धारा से अलग-अलग रहे और विदेशियों में सबसे कम उन्हीं का प्रभाव भारत पर पड़ा।

फ़रांसीसी लोगों से भारत की अंग्रेज़ी सत्ता ने बहुत कुछ सीखा, परन्तु उन्होंने भारत की जनता के राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विकास में किसी प्रकार सहायता नहीं की। हाँ, पालिसी और सेना-संगठन के नये ढंग भारतीय राज्यों ने इनसे सीखे। फ़रांसीसियों ने अनेक सधियाँ की और भारतीय राजाओं की सेनाओं को यूरोपीय ढंग से सज्जित किया। बड़ी-बड़ी सेनाओं को दूर-दूर ले जाकर आक्रमण करने की नई कला मरहठा लोगों ने फ़रांसीसियों से सीखी। परन्तु उनका शासक अल्प-कालीन रहा और इसीलिए भारतीय समाज पर उनका कोई महत्व-पूर्ण प्रभाव नहीं पड़ा। १७४१ में पांडिचरी में डुप्ले (Dupleix) आया और २० वर्ष बाद (१७६१) पांडीचरी की फ्रेंच सत्ता के महत्व के लोप होने के साथ ही उसके सारे चिन्हों का भी लोप हो गया।

१८ वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में फ्रांसीसी प्रभाव फिर दिखलाई पड़ा और फ्रांस की राजक्रांति की प्रतिक्रिया भारत पर भी पड़ी। मैसूर के टीपू सुल्तान ने फ्रांसीसियों से सन्धि की और श्रीरंगपट्टन में स्वतन्त्रता का झंडा लहरा दिया। उन दिनों सिन्ध्या और अन्य मरहठा राज्यों की सेनाओं में फ्रांसीसी सेनानायक रहते थे। रैमन्ड (Raymand) और द बान (de Boigne) जैसे सेनानायकों को भारतीय सैनिक सदा कृतज्ञता और प्रेम से याद करते रहे।

वास्तव में विदेशी व्यापारियों और सैनिकों से भारतीय समाज इतना संपर्क में नहीं आया जितना मिशनरियों (पादरियों) से। उनका लक्ष्य धर्म-परिवर्तन था, अतः उन्हें जनता के संपर्क में आना आवश्यक था। इस धर्म-परिवर्तन के क्षेत्र में तीन विदेशी

मिशन आये। १६ वीं शताब्दी में पुर्तगाली मिशन आया। सत्रवीं शताब्दी में मदुरा मिशन और १८ वीं शताब्दी में डैनिश मिशन। पहले **Francixians** और Dominicans आये, परन्तु १५४२ ई० में Francis xavier के आने तक इन्हें विशेष सफलता नहीं मिली। Xavier की सत्प्रवृत्तियों ने भारतीयों पर विशेष प्रभाव डाला। पश्चिमी समुद्रतट के नाविक इस प्रभाव को स्वीकार कर ईसाई मत में दीक्षित हो गए। फिर भी उसे विशेष सफलता नहीं मिली और कुछ दिनों बाद वह जापान चला गया। उसके पीछे जेसुआइट (Jesuite) मिशनरी आये। उन्होंने बड़ी तत्परता से काम किया। शासकों ने उनकी सहायता की। वे स्वयं रहन-सहन और पहनावे में भारतीय बन गये थे, अतः उनका प्रभाव अधिक पड़ना आवश्यक था। थोड़े ही दिनों में भारतीय ईसाइयों के गिरजाघर पुर्तगाली प्रदेशों में बन गये। जेसुआइट मिशनरी बंगाल पहुँचे। वे अकबर के दरबार में भी गये। जहाँगीर के समय में आगरा में उन्होंने एक गिरजा भी बना लिया। उन्होंने भारतीयों की शिक्षा के लिए विशेष प्रयत्न किया, परंतु शिक्षा का अर्थ था धर्म-प्रचार। गोआ और कोचिन में उन्होंने स्कूल खोले।

१६वीं शताब्दी में बंगाल के इन मिशनरियों ने हमारे देश में मुद्रणालय की संस्था का प्रवर्तन किया और समाचार पत्रों को जन्म दिया। एक तरह से ये ईसाई पादरी देश के जागरण के अग्रदूत थे। उनका मुख्य उद्देश्य धर्म-प्रचार था। परन्तु इस धर्म-प्राण देश में जहाँ बुद्ध, शंकर और मुहम्मद की धर्म-दीप्ति घर-घर जल रही थी उनके लिए इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त करना असंभव था। परन्तु इस प्रयत्न में उन्होंने जिन

महान् शक्तियों के स्रोतों को उन्मुक्त किया, वे कालांतर में इस देशमें ज्ञान-विज्ञान के अध्ययन की नई परम्पराएं स्थापित कर सके।

बंगाल और बिहार सबसे पहले अंग्रेज़ी शासन में आये और १७६५ से १७७२ तक दुअमली का राज रहा। परन्तु मुग़लों के समय में ही दशा इतनी बिगड़ गई थी कि उसका सुधारना असंभव था। इन प्रारम्भिक वर्षों का इतिहास भारत में ब्रिटिश राज्य का सबसे काला पृष्ठ है। वॉरन हेस्टिंग्ज़ के रेगुलेटिंग ऐक्ट (१७७२) से शासन की नई दिशा का सूत्रपात हुआ। इसी ढाँचे पर कार्नवालिस ने ब्रिटिश शासन-पद्धति को खड़ा लिया। वॉरन हेस्टिंग्ज़ के समय में पिंडारी डाकुओं का बड़ा दल था। गाँव-गाँव में युद्ध होने लगे थे। बड़ी अराजकता थी। धीरे-धीरे यह अराजकता दूर हुई और देश एक केन्द्रीय शासन के नीचे संगठित होने लगा। इस नई शासन-व्यवस्था से लोग बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने ब्रिटिश शासन को 'रामराज्य' समझा और कवियों के उसके गुणानुवाद गाये। धीरे-धीरे अंग्रेज़ी शासन आगे बढ़ा। १७६६ ई० से १८०० ई० के समय तक धीरे-धीरे एक-एक प्रदेश अंग्रेज़ साम्राज्य में आता गया।

१६ वीं शताब्दी के आरम्भ में अंग्रेज़ी भारत का एक बड़ा भाग मरहठों के शासन में था। मरहठों का अपना कोई केन्द्रीय शासन न था। कई केन्द्र थे। सिंध्या (ग्वालियर और मालवा), होलकर (इन्दौर), गायक्वाड़ (बड़ौदा), भौंसला (नागपुर और बरार) ये सब पेशवा (पूना) की छत्र-छाया में स्वतन्त्र राष्ट्र थे। सब की अलग-अलग सेना थी। राज

व्यवस्था भी एक ही प्रकार की नहीं थी। उस समय अहल्याबाई (१७६५—१७९५) जैसे शासक हुए, परन्तु ये अपवाद थे। अकाल और अव्यवस्था का ज़माना था। १७९० ई० के लगभग दिल्ली उजाड़ था और मथुरा, सिखों और मरहठों का केन्द्र हो रहा था।

इस सब अराजकता के युग में भी भारतीय गाँव बना रहा। जीवन सरल था, सीधी-साधी बातों में आनन्द था। संपेरे और बाजीगर अब भी आनन्द के केन्द्र थे। यात्रियों की मेहमानी अब भी होती थी और दीन-दरिद्रों को दान मिलता था। गाँव की उपज का एक भाग नौकरों, ब्राह्मणों और पाठशाला मकतबों के लिए अलग कर दिया जाता। छोटे-छोटे फूस-खपरेल के झोपड़ों में चटाई पर बैठकर विद्यार्थी गुरु से पाठ लेते। काशी और पूना ब्राह्मणों के व्यवस्था-केन्द्र थे। मरहठों के राज्य में गोधन की बिक्री बन्द थी और गोबध का दंड प्राण-दंड था। सती-प्रथा का मान था। हिन्दू धर्म नए ढंग से बल प्राप्त कर रहा था।

हिन्दू स्वतन्त्र राज्यों में सबसे अन्तिम पंजाब में रणजीत सिंह का राज्य था। वैसे सबसे अन्तिम भू-भाग जो अंग्रेज़ शासकों के हाथ आया (१८५६) वह अवध था। इसके विस्तृत चित्र हमें मिलते हैं। परन्तु इस सारे समय को हम जहाँ मुग़ल साम्राज्य के पतन और उच्छृङ्खलता के तांडव-नृत्य के रूप में देखते हैं, वहाँ इसे हिन्दू राष्ट्रीयता के उत्थान के रूप में भी देख सकते हैं। महाराज जयसिंह के समय (१६८६—१७४३) से ज्योतिष और साहित्य का पुनरुद्धार आरम्भ हुआ। नदियाँ १८वीं शताब्दी के अन्त में बंगला-संस्कृति का केन्द्र था।

दिल्ली और लखनऊ उर्दू कविता के केन्द्र थे। बनारस, नदिया, पूना ब्राह्मणों की व्यवस्था के केन्द्र थे। यहाँ संस्कृत भाषा और दर्शन की पढ़ाई पाठशालाओं में होती थी। दक्षिण में मदुरा इसी प्रकार का केन्द्र था। इन केन्द्रों ने हिन्दू जाति को इस अराजकता के युग में भी सुसंगठित रखा। कुटुम्ब, वर्णाश्रम, पंचायत जैसी संस्थायें इस आड़े वक़्त काम आईं। जहाँ गाँव का गाँव ही तबाह हो गया वहाँ बात ही दूसरी थी परन्तु अधिकांश स्थानों पर जनता की भाषा, उस के धर्म, संस्कृति और आचार-विचार की गंगा अविच्छिन्न रूप में बहती रही। कृषक का भूमि-मोह प्रसिद्ध है। वह भूमि से बराबर चिपटा रहा। तूफान और बवन्डर उसे थोड़े समय के लिए उजाड़ देते, परन्तु आँधी बन्द होते ही वह लौट आता। भारत की आश्चर्यमय प्रवृत्ति यह है कि साम्राज्य नष्ट हो जाते हैं, गाँव बने रहते हैं। व्यापार आदि उद्योग-धंधे नष्ट होते रहे पर फिर भी भारत सोने की चिड़िया न बना रहा। पश्चिम के देशों की लोलुप दृष्टि उस पर बराबर लगी थी। भारतीय संस्कृति की दीपशिखा भले ही मंद हो गई हो परन्तु इस अराजकता के युग में भी वह बुझी नहीं।

३२
नवयुग और युगांतर

१—भूमिका २—नवयुग की कुछ विशेषताएं ३—भाषा और साहित्य की नई दिशायें ४—धार्मिक और सुधारात्मक आन्दोलन ५—पश्चिमी सभ्यता का संघात और राष्ट्रीय आन्दोलन का जन्म और विकास ६—शिक्षा और संस्कृति के क्षेत्र में नए प्रयत्न ७—१५ अगस्त १९४७ के बाद ८—गाँधीजी का नेतृत्व और युगांतर ९—कवि का युगांतर का सपना १०—भारत-भू का यह युगांतर विश्व के लिए अभिनंदनीय

हमारे साहित्य और समाज का नवयुग १८०० के लगभग प्रारम्भ होता है। अभी इस युग का प्रारम्भिक काल ही चल रहा है। इतिहास की दृष्टि से यह काल अंग्रेज़-काल भी कहलाता है। परन्तु हमने संस्कृति के अंगों को धार्मिक दृष्टिकोण से विभाजित किया है। इस दृष्टि से इस काल की ईसाई सभ्यता (या पश्चिमी सभ्यता) से संघर्ष का काल कहना चाहिए। परन्तु यह उपयुक्त और उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तव में इस काल को 'वर्तमान-काल' या 'सुधार-काल' कहना अधिक समीचीन होगा। इस काल की संस्कृति के विषय में अभी हम विस्तृत और निश्चित रूप से विचार नहीं कर सकते, क्योंकि प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में अनेक प्रवृत्तियों को निश्चित रूप प्रदान नहीं किया जा सकता और उसकी प्रवृत्तियों में बराबर परिवर्तन हो रहे हैं।

प्राचीन संस्कृत आर्य-साहित्य और भाषाओं का अध्ययन इस काल में प्रायः लुप्त-सा हो रहा है। संस्कृत की तो कुछ

पूछ है भी, पाली, प्राकृत और अपभ्रंश को तो लोग प्रायः भूल गये हैं। १६ वीं शताब्दी में ब्राह्मी लिपि को लौकिक लिपि नहीं मानते थे। हिन्दी प्रदेश के विश्वविद्यालयों और पाठशालाओं में इन भाषाओं (संस्कृत के अतिरिक्त) के अध्ययन का कोई प्रबंध नहीं था। संस्कृत के अध्ययन को केवल एक छोटे से वर्ग (ब्राह्मण वर्ग) ने अपना लिया है। जन-साधारण संस्कृत का अध्ययन नहीं करते और संस्कृत को आज भी साधारण शिक्षा में नहीं गिनते। आजकल संस्कृत का जो अध्ययन हो रहा है वह अपूर्ण और एकांगी है। संस्कृत के विद्वान प्रायः विशेषज्ञ बनने की दृष्टि से उसका अध्ययन करते हैं। वे साधारण शिक्षा की दृष्टि से संस्कृत नहीं पढ़ते।

एक नवीन विदेशी भाषा संस्कृत से हमारा सम्बंध इस काल में हुआ। यद्यपि हम अंग्रेजी साहित्य को पढ़ते और जानते हैं परन्तु अंग्रेजी साहित्य के निर्माण में मौलिक रचना में अंग्रेजी की लिखी हुई पुस्तकें बहुत महत्वशाली नहीं। विश्व-विद्यालय के अन्वेषक विद्यार्थी अपने परिश्रम के फल अंग्रेजी में ही प्रकाशित करते हैं, परन्तु इस विद्वानों की खोज साधारण साहित्य के अन्तर्गत नहीं जाती। अंग्रेजी का मौलिक ललित साहित्य हमारे द्वारा कुछ भी नहीं बना।

इस काल में हमारी भाषा दो धाराओं में विभक्त हो गई। एक हिन्दी दूसरी उर्दू। हिन्दी का विकास विशेषकर खड़ी बोली के रूप में इसी काल में हुआ है। उर्दू साहित्य का आरम्भ भी हिन्दी के सदृश पिछले (भक्ति—) काल में हुआ। परन्तु वह मुसलमान शासकों द्वारा अपना ली गई और बड़ी तेजी से विकसित हुई। आज हम साहित्यिक दृष्टि से एक नवीन परि-

स्थिति के बीच में पड़ रहे हैं। अंग्रेजी का प्रभाव हिन्दी पर अस्पष्ट रूप में बहुत अधिक पड़ा है। हमारे साहित्य में अंग्रेजी साहित्य के अध्ययन से आमूल परिवर्तन हो गया है और साहित्य के अनेक नये प्रकारों का जन्म हो गया है।

वर्तमान काल में धर्म असाधारण परिस्थिति में है। हिन्दू धर्म या सनातन धर्म जिस रूप में प्रचलित है वह बौद्ध सुधार, पौराणिक तथा भक्तिकाल के धर्म के मिश्रित प्रभाव से उत्पन्न हुआ है। इनमें से भक्ति सम्प्रदाय और पौराणिक धर्म का अधिक प्रभाव पड़ा है। इस समय सनातन धर्म के प्रत्येक क्षेत्र में क्षीणता दृष्टिगोचर होती है। सर्व-साधारण के अंदर आस्तिकता की भावना वर्तमान है। पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत किसी न किसी रूप में समाज में माने जाते हैं। पौराणिक देव-ताओं और अवतारों पर विश्वास रखा जाता है और वे इष्ट-देव के रूप में पूजे जाते हैं।

भक्तिकाल में भक्ति-भावना की छाप समाज पर गहरी पड़ी दिखाई देती है। यहाँ तक कि शैवों और शाक्तों में भी भक्ति-भावना प्रविष्ठ हो गई है। तीर्थ-यात्रा-व्रत, उपवास आदि नियमों का पौराणिक ग्रन्थों के पालन भी किया जाता है परन्तु प्रत्येक अंग में शिथिलता और अव्यवस्था है। मन्दिरों की अवस्था अच्छी नहीं, धार्मिक भावना जनता के अति निकट नहीं प्रतीत होती। ईसाई धर्म का प्रभाव सर्व साधारण पर स्पष्ट रूप से इतना अधिक नहीं है। हिंदी प्रदेश में उच्च वर्ग वालों ने ईसाई धर्म को ग्रहण नहीं किया। केवल निम्न श्रेणी और निम्न जाति के लोगों ने ही ईसाई धर्म स्वीकार किया।

धार्मिक क्षेत्र के प्रत्येक अंग में इस युग में सुधार की

भावना दृष्टिगोचर होती है। मद्रास में थ्योसोफ़िकल सोसाइटी बंगाल में ब्रह्म समाज और बम्बई में प्रार्थना-समाज सुधार की ओर प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु हिन्दी भाषा-भाशी प्रदेश में आर्य समाज और राधा-स्वामी सत्संग का ही विशेष महत्त्व है। इन सुधारों का सम्बन्ध विशेषतयः उच्च श्रेणी या मध्यम श्रेणी के जन-समुदाय पर ही पड़ा है, जन-साधारण पर नहीं।

हिन्दी प्रदेश के सुधार आन्दोलनों की विशेषता यह है कि इनकी प्रवृत्ति प्राचीनता की ओर है। उपनिषद् और वेदों को आर्यसमाज प्रामाणिक मानता है और वैदिक धर्म का पुनरुत्थान उसका लक्ष्य है। इन सुधार-आन्दोलनों में केवल धार्मिक आन्दोलन ही दिखाई नहीं देता, प्रत्युत सामाजिक, राजनीतिक, कला आदि के क्षेत्र में भी आन्दोलन हो रहा है। विधवा-विवाह शुद्धि, भोजन में अस्पृश्यता का भेद-भाव, विवाहादि के विषय में साम्य, जातिगत-भेद-निवारण, मूर्ति-पूजा-बहिष्कार आदि की भावना प्रबल है।

राधास्वामी सम्प्रदाय एक प्रकार से संत-सम्प्रदाय का आधुनिक रूप है। संत-सम्प्रदाय के प्रमुख-प्रमुख सभी सिद्धान्त राधास्वामी सम्प्रदाय के अंतर्गत मिलते हैं यथा गुरु का स्थान, योगाभ्यास की प्रक्रियाओं के महत्वादि। इस सम्प्रदाय में आधुनिकता की छाप भी है। अब तक के सभी धार्मिक सुधारों में सांसारिक अभ्युदय पर विशेष ज़ोर नहीं दिया गया था। इस ओर सर्वप्रथम राधास्वामी सत्संग ही प्रवृत्त हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि इन सुधारों का कितना गहरा प्रभाव है या पड़ेगा। इस समय इन आन्दोलनों पर दृढ़ विश्वास करने वाले

और उन पर चलने वाले व्यक्ति अल्पसंख्यक ही हैं, यद्यपि अस्पष्ट रूप में सभी प्रभावित हैं।

भक्ति-काल के अन्तर्गत १७५७ के पश्चात् मध्यदेश की राजनीतिक परिस्थिति परिवर्तित होने लगी थी। १७६१ ई० में पानीपत का युद्ध हुआ था, जिसमें महाराष्ट्र शक्ति अहमद-शाह अब्दाली द्वारा पराजित हुई थी। १७६६ ई० में बक्सर के युद्ध में अवध की सेनाएँ अंग्रेजों से पराजित हुई थीं। १८०२-०४ ई० में मरहठों के युद्ध के पश्चात् पश्चिमी मध्यदेश भी अंग्रेजों के आधीन हो गया।

१८०६ से १८४६ तक द्वितीय सिख युद्ध तक अंग्रेजों की शक्ति बढ़ती ही गई। १८४६ ई० में सिख युद्ध में मध्यदेश का सारा पश्चिमी भाग और पंजाब अंग्रेजों के आधीन हो गया और १८५६ तक समस्त हिन्दी प्रदेश अंग्रेजों द्वारा जीत लिये गये। सन् १८५७ ई० में विपलव हुआ जिसके पश्चात् राजनीति का द्वितीय कांड आरम्भ हुआ। १८५७ ई० का विद्रोह अखिल भारतीय सैनिक विद्रोह नहीं था, प्रत्युत इसका सम्बन्ध प्रमुख हिन्दी प्रदेश से था। मेरठ, दिल्ली, आगरा, झाँसी, लखनऊ, कानपुर, पटना आदि स्थान ही केंद्र थे, परन्तु वह राष्ट्रीय विद्रोह नहीं था। इस विद्रोह के सूत्रधार राजा, नवाब और तालुकेदार थे जिनसे अधिकार या राज्य अंग्रेजी शासन ने छीन लिये थे। इन्हीं लोगों ने हिन्दी प्रदेश सैनिकों की सहायता से देशव्यापी विद्रोह फैलाया। इस विद्रोह के दबाने में हिन्दी प्रदेश के सीमाप्रांत-निवासो पंजाबी एवं मद्रासी सैनिकों ने हमारे विरुद्ध अंगरेजों की सहायता की। गोरखे, राजपूत और सिक्ख हमारे विरुद्ध लड़े। फलतः १८०८—१८५७ तक हिन्दी प्रदेश

ईस्ट इंडिया कम्पनी के आधीन था और तत्पश्चात् अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत चला गया।

१८५७ ई० से एक नया रूप राजनीतिक क्षेत्र में दिखाई देता है अर्थात् १८५७ ई० से सुधार की भावना जाग्रत होती रही, राजनीतिक परिवर्तन होते रहे। १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हुई। तब से १९०५ तक कांग्रेस नरमदल के हाथ में रही और प्रस्ताव ही पास करती रही। १९०५ में बंगभंग की प्रसिद्ध घटना हुई। इसी समय जब जापान ने रूस को पराजित किया तो उसके प्रभाव-स्वरूप भारतवर्ष में भी उत्क्रांति और जाग्रति की भावना प्रबल हुई और तभी से सुधार की भावना ने भी उग्ररूप धारण करलिया। पुनः यूरोपीय महायुद्ध के पश्चात् १९१८—२२ तक असहयोग आन्दोलन चला और पुनः १९३०—३२ तक असहयोग आन्दोलन चलता रहा। आन्दोलनों के फलस्वरूप राजनीतिक सुधार की शक्ति अधिक बढ़ गई। गाँवों में भी राजनीतिक समस्याओं पर विचार होने लगा। इस प्रकार जब से अंग्रेजी सत्ता भारत वर्ष में स्थिर हुई तभी से राजनीतिक सुधारों की भावना भी जाग्रत हुई और सबसे अधिक रोचक बात तो यह है कि हम सुधार की ओर अग्रसर होते हुए भी संस्कृति के आदि काल की ओर प्रवृत्ति हो रहे हैं। हम जनपद की संस्थाओं की ओर मुड़ रहे हैं। वैदिक काल में जनपद ही राज्य-संचालन करता था। वास्तव में प्रजातंत्र जनपद का ही नवीन रूप है और आज भी हम यह कह सकते हैं कि जब सर्व-साधारण देश की परिस्थितियों पर विचार करेगा तभी देश का भला होगा।

सुधार की भावना वर्तमान काल में भी दिखलाई देती है।

सर्वत्र परिवर्तन की भावना से ओत-प्रोत है। बिरादरी की व्यवस्था अब उपयुक्त नहीं मानी जाती। पंजाब में 'जाति-पाँति तोड़क मंडल' आदि छोटी-छोटी संस्थाओं से लेकर आर्य-समाज तक प्रत्येक संस्था में परिवर्तन की भावना है। परन्तु आजकल राजनीतिक समस्या इतनी महत्वपूर्ण हो गई है कि समाज-सुधार की ओर हमारा ध्यान पूर्ण रूप से नहीं जा रहा है। हमारे समाज में इस समय प्रायः दो वर्ग के लोग हैं। एक तो प्राचीन परिपाटी वाले और दूसरे प्राचीन व्यवस्थाओं को उखाड़ फेंकने वाले।

पहले की अपेक्षा परदे की प्रथा में बहुत परिवर्तन हुआ है। परदे की समस्या मुख्यतः हिन्दी प्रदेश की समस्या है। परदा वधू का श्वसुर से, परिवार के अन्य व्यक्तियों से अतिथि से और समाज के साथ अलग-अलग रूप में होता है। राज-नीतिक आन्दोलनों ने हमारी महिलाओं को जीवन के क्षेत्र में ला खड़ा किया है और प्राचीन प्रतिबन्ध धीरे-धीरे टूट रहे हैं।

शिक्षा की प्राचीन संस्थाएँ भी यूरोप के अनुकरण के कारण टूट गई है। नवीन संस्थाओं का निर्माण हुआ है। शिक्षा में प्रायः देश की परिस्थितियों का दृष्टिकोण उपस्थित हो रहा है अब प्रयोग के रूप में वार्धा स्कीम के अनुसार कुछ परिवर्तन किया जा रहा है।

६—७ सौ वर्षों तक विदेशी प्रभाव पड़ने से हमारी कलाएँ चित्रकला, मूर्तिकला, वस्तुकला आदि संस्कृति की दृष्टि से समाप्त हो चुकी हैं। १२०० ई० के पश्चात् की कला के स्मारक विदेशी प्रभाव से पूर्ण हैं। भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों

में, जैसे बंगाल और बम्बई में, कला की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है, परन्तु हिन्दी प्रदेश में कला के क्षेत्र में अभी कोई महत्त्वपूर्ण आन्दोलन उठ खड़ा नहीं हुआ है।

१५ अगस्त १६४७ को देश २०० वर्षों की अंग्रेजी राजसत्ता की गुलामी से युद्ध हुआ है। भारत की यह स्वतंत्रता नवयुग के जागरण-प्रभात की द्योतक है। सबसे बड़ी बात यह है कि यह स्वतंत्रता शस्त्रों द्वारा प्राप्त नहीं हुई है। लगभग ३० वर्षों के राष्ट्रीय तप के बाद आज देश मुक्त हुआ है और जिस महामहिम ने देश को स्वतंत्रता के इस कैलाश-शिखर पर पहुँचाया वह भारतवर्ष ही नहीं संसार का गौरव-मणि है। इससे भारतीय स्वतंत्रता की महिमा और ही बढ़ जाती है। भारतवर्ष में सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, आत्मबलिदान और अपरिग्रह की एक बहुत बड़ी परम्परा रही है। मध्ययुग में कबीर और दादू इसी संत परम्परा के ध्वजा वाहक थे। गांधीजी ने इसी परम्परा को राजनैतिक क्षेत्र में उतारा और देश को मुक्त किया। गांधी जी देश के स्वतंत्र्य-प्रभात को वर्णच्छटा फैला कर चले गये, परन्तु जिस युगान्तर के वे प्रतीक थे, वह अभी भी अपने सहस्र दल खोल रहा है।

गाँधी जी नहीं रहे। परन्तु वे तो भारत को सांस्कृतिक सुषमा और नये युग की मिट्टी के प्रतीक थे। वे मर कर भारत के जन-जन की आत्मा में समा गये। नव भारत में जो जनता के नवीन जीवन का सागर लहरा रहा है, वह उनकी विजय ही घोषित कर रहा है। आज मध्ययुगों का घृणित दाय पराजित हो रहा है। जातिद्वेष, अन्धविश्वास, दासता, अति-वैयक्तिकता का नाश हो रहा है। आज हमारी जनता सामाजिकता के प्रति जाग्रत हो रही है। गांधी जी की मृत्यु ने देश को लौह

संकल्प से दृढ़ कर दिया है। नई चेतना और नये सपनों को लेकर भारत के नरनारी प्रगति के पथ पर आगे बढ़ रहे हैं। आज भारत की नारी उषा की भाँति अकुंठिता है। इस नव्य जागरण के सपने से कवि का अन्तर ऊर्जस्वित हो उठता है। भावी भारत का एक महत् चित्र उसके मानस-नेत्रों के सम्मुख उल्लासित होने लगता है। वह गा उठता है—

देख रहा हूँ, शुभ्र चाँदनी का-सा निर्झर
गांधी युग अवतरित हो रहा इस धरती पर।
विगत युगों के तोरण, गुंबद, मीनारों पर
नव प्रकाश की शोभा, रेखा का जादू भर।
संजीवन या जाग उठा फिर राष्ट्र का मरण,
छायाएँ-सी आज चल रहीं भू पर चेतन,
जनमन में जग, दीप-शिखा के पग धर नूतन,
भावी के नव स्वप्न धरा पर करते विचरण।
सत्य अहिंसा बन अन्तर्राष्ट्रीय जागरण
मानवीय स्पर्शों से भरते भू के व्रण ?
झुका तड़ित-अणु के अश्वों को, कर आरोहण
नव मानवता करती गाँधी का जय घोषण।
मानव के अन्तरतम शुभ्र तुषार के शिखर
नव्य चेतना मंडित, स्वर्णिम उठे हैं निखर।

न जाने कवि का यह सपना कब सच होगा ? परन्तु इसमें संदेह नहीं कि गांधी जी के जीवन और उनकी मृत्यु ने इस सपने को दूर क्षितिज से बहुत पास ला दिया है। उनके उच्चादर्शों से आज भी जन-मन दीपित हैं। उनका जीवन स्वप्न एक नवीन राष्ट्र का जागरण बन गया है। सभ्यता कह कर जिसका जयगान किया गया है, वह कृत्रिमता से पीड़ित है, यह

उन्होंने बताया। यांत्रिकता के विषम भार से जर्जर इस भू पर आत्मा के सौन्दर्य और जीवन-सारल्य की स्थापना की बात कहना क्या कम साहस की बात थी? उन्होंने आत्म-दान द्वारा जिस सत्य की स्थापना की है, वह क्या कभी झूठा हो सकता है? एक महान युग-सत्य को उद्घोषित करता हुआ आज कवि अपनी मंगलाशा प्रकट करता है—

> घृणाद्वेष मानव-उर के संस्कार नहीं है मौलिक
> वे स्थितियों की सीमायें हैं; जन होंगे भौगोलिक!
> आत्मा का संचरण प्रेम होगा जनजन के अभिमुख
> हृदय ज्योति से मंडित होता हिंसा-स्पर्धा का मुख

आज मंडलाशा के इस स्वर्ण केतन को लेकर भारत की नई पीढ़ी आगे बढ़ रही है। इसमें संदेह नहीं कि आज नवयुग विगत पीढ़ियों की द्वाभा को पार कर युगांतर के के नये आलोक में प्रवेश कर रहा है। लगभग १५० वर्ष पहले एक विदेशी पश्चिमी सभ्यता के संघात से जो विचित्र परि-स्थिति उत्पन्न हो गई थी, वह कालांतर में शिव के गरलपान की तरह वृद्ध भारत को नई स्फूर्ति और नई दिव्यता दे सकेगी। इसकी कल्पना किसने की थी परन्तु आज मध्ययुग के जरा-जीर्ण मूल्यों को हम नवयुग की मुद्रा से मुद्रित करने लगे हैं। पिछले १५० वर्ष भावी भारत के उज्ज्वल महान की पूर्व पीढ़िका सिद्ध होंगे। मौर्य और गुप्त युगों में भारत ने जिस महत्व को ग्रहण किया था, उसकी परम्परा हमारे दुर्भाग्य से बहुत पहले समाप्त हो गई थी। हमने हिमालय की अभ्रभेदी प्राचीरों और महासमुद्र की हिल्लोलित तरंगों को अभेद्य मान लिया था और अपने छोटे से संसार में सिमट कर हम सचमुच निर्वीर्य और निरुद्यमी हो गये थे। पश्चिम के सैनिक और सांस्कृतिक संघात

ने हमें धक्का दिया और हमें स्मरण दिलाया कि जो जाति अपने में सिमट कर अपने में सीमित रह कर विराट विश्व से अपना सम्बन्ध तोड़ लेती है, वह सदैव के लिए लांछित हो जाती है। नवयुग में भारतवर्ष फिर एक बार गीता के '(युद्धस्व विगतः ज्वरः)' के वज्रघोष से निनादित हो उठा और हम ज्ञान-विज्ञान के नए-नए क्षेत्रों से परिचित हुए। हमने नई-नई कर्म भूमियों में पदार्पण किया और हमारे विश्वविश्रुत नेताओं ने हमें नए अस्त्रों से सुसज्जित कर रणभूमि में उतारा। आज हमने युगांतर का आह्वान सुन लिया है और हमारे युग का प्रभात चरण गा उठा है।

अह, इस सोने की धरती के
खुले आज सदियों के बन्धन,
मुक्त हुई चेतना धरा की
मुक्त बने अब भू के जनगण,
अगणित जल लहरों से मुखरित
उमड़ रहा जगजीवन सागर!

भारत-भू का यह युगांतर विश्व के लिए अभिनंदनीय हो और वह मानव-सभ्यता मे नये मूल्यों की प्रतिष्ठा करे!

———